दुर्गासप्तशती

(प्रथम चरित्त)

विवृतिकार :
राजकिशोर मणि त्रिपाठी

संस्कृत सेवा संस्थान
सी. १८६/१५६ खुर्रमपुर, पो०-गीताप्रेस
गोरखपुर-२७३००५

दुर्गासप्तशती

(प्रथम चरित)

विवृतिकार :
राजकिशोर मणि त्रिपाठी



संस्कृत सेवा संस्थान
सी. १८६/१५६ खुर्रमपुर, पो०—गीताप्रेस
गोरखपुर—२७३००५

प्रकाशक :
संस्कृत सेवा संस्थान
सी. १८६/१५६ खुर्रमपुर
गोरखपुर

प्रथम संस्करण : १९९२

मूल्य : रू० १५/

वितरक :
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी

द्विवेदी ब्रदर्स
बख्शीपुर, गोरखपुर

मुद्रक :
एस० के० प्रिन्टर्स
गोरखपुर

श्री :



निवेदन

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।

परदुःखकातर तथा स्वाभिमानिनी मेरी माँ सर्वधर्मसमभाव की प्रतिमूर्ति थीं। उन्होंने ही मेरे शैशव में मुझे नवार्णमन्त्र की दीक्षा दी थीं। कुलदेवी के रूप में जगदम्बा की उपासना मेरे यहां किसी न किसी प्रकार से नित्य तथा वार्षिक होती रहती है। इसी प्रसङ्ग में दुर्गासप्तशती से बहुत पहले ही परिचय हो गया था। पहले पाठमात्र चलता रहा। बाद में बाबू सम्पूर्णानन्द का एक लेख पढ़ा, जिसमें उन्होंने सप्तशती को नित्य की पाठपोथी होने पर दुःख प्रकट करते हुये उसकी राजनीतिपरक प्रासङ्गिकता का प्रतिपादन किया था। पुनः चण्डीकार्यालय, इलाहाबाद से प्रकाशित श्री श्यामानन्द नाथ की आध्यात्मिक व्याख्या एवं कलकत्ता से प्रकाशित श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेव जी की आध्यात्मिक व्याख्या 'साधन समर' भी पढ़ा। दोनों की अध्यात्मपरक व्याख्या में भेद का अवलोकन भी किया। इससे जिज्ञासा बढ़ी तथा अनेक व्याख्यायें देख डालीं।

इसी क्रम में आचार्य भास्कर राय का एक वचन मिला, जिससे पता चलता है कि इस पुस्तक की काव्य, व्याकरण, तर्क तथा उपनिषद्परक व्याख्यायें भी थीं। उनकी गुप्तवती स्वयं तन्त्रपरक व्याख्या है। सप्तटीकोपेत सप्तशती को देखने के बाद पं० सरयू प्रसाद द्विवेदी का सप्तशती सर्वस्व भी देखा। उसमें उल्लिखित रामाश्रमी टीका देखी पर पुष्पाञ्जलि मुझे देखने को नहीं मिली। इसी बीच में मन्त्र सप्तशती नामक पुस्तक तथा परदेवीसूक्त नाम की एक छोटी पुस्तिका भी देखने को मिली। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' बाज़ी प्रतियों से तो बाजार भरा है।

वेदाध्ययन के प्रसङ्ग में यह ज्ञात हुआ था कि प्रत्येक वैदिक मन्त्र के ऋषि देवता तथा छन्द का ज्ञान अपेक्षित है। अन्यथा मन्त्र फलप्रद नहीं होता है। सप्तशती का विनियोग भी देखा। विनियोग में भिन्नता भी मिली। प्रचलित विनियोग का भी अर्थ ठीक से समझ में नहीं आया। गायत्री, उष्णिक् का कहीं दर्शन भी सप्तशती में नहीं मिलता है। बीज शक्ति कीलक तथा स्वरूप जो वैदिक साहित्य में अनभिप्रेत हैं, उनका उल्लेख भी यहाँ मिला पर तात्पर्य अस्पष्ट देखकर कुछ विद्वानों से जिज्ञासा भी किया पर हाथ में कुछ नहीं आया।

इन्हीं दिनों 'दुर्गा सन्देह भेदिका' नामक एक हस्तलिखित तथा अप्रकाशित पुस्तक मुझे मिल गई। जिसके सम्पादन की इच्छा मन में प्रबल

हो उठी पर दूसरी प्रति के अभाव में वह कार्य भी नहीं हो पाया। यह टीका व्याकरण तथा शिक्षापरक है। रामाश्रमी और दुर्गासन्देहभेदिका के साथ अपनी टिप्पनी देते हुये पुस्तक प्रकाशित करने का भी विचार दिवास्वप्न हो गया। अन्त में सप्तशती के प्राप्त संस्कृत टीकाओं के आधार पर सन्देहों का युक्तिपूर्वक निराकरण और विनियोग के अर्थ के स्पष्टीकरण के साथ अनेक ज्ञातव्य विषयों का समावेश करके एक संस्करण निकालने का विचार हुआ जो एक प्रकार से सप्तशतीकोश का कार्य कर सके। फिर तो सामग्री सङ्कलन में जुट गया। कुछ सफलता भी मिली तथा विश्वास हुआ कि कुछ कुछ रहस्य तक मैं पहुँच रहा हूँ। अवकाश प्राप्त करके इस पर कलम चलाने का विचार हुआ। समय के साथ काफी कुछ कार्य भी किया। पर पराम्बा की इच्छा से इधर मैं स्वयं सप्तशती का समाधि बन गया हूं। ऐसी स्थिति में मेरे द्वारा संगृहीत एवं लिखित सामग्री का उपयोग हो पायेगा, इसमें सन्देह देखकर कुछ ही अंश प्रकाशित कर दूं, ऐसा विचार मन में आया।

अपनी नीति के लिये विख्यात गीताप्रेस को यदि छोड़ दें तो संस्कृत मुद्रण की दृष्टि से गोरखपुर अब तक लेखक को कष्ट देने वाला ही बना रह गया है। 'अपने राघवेन्द्रचरितम्' की दुर्गति से मैं बड़ा खिन्न हूं। फिर भी इस पुस्तक को गोरखपुर से ही निकालना पड़ रहा है।

सम्प्रति सप्तशती की शङ्काओं का निराकरण किये बिना, उसके पाठभेदो की विवेचना किये बिना तथा षडङ्गों की चरितार्थता दिखाये बिना एवम् अन्य प्रकार के आवश्यक अनुशीलन किये बिना भी इसका प्रथम चरित प्रकाशित करना आवश्यक समझा। इसकी पाण्डुलिपि को दुबारा देखने की अवस्था में भी मैं नहीं रह गया हूं। ज्यों की त्यों प्रेस को जाने वाली प्रति की फोटोप्रति से जिस किसी प्रकार इसे ठीक करके एस० के० प्रिन्टर्स के स्वामी श्री राजेश कुमार मिश्र तथा प्रूफ के द्रष्टा मेरे शिष्य डा० दशरथ द्विवेदी साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस रूप में भी इसे विज्ञ एवं श्रद्धालुजनों के समक्ष उपस्थित करने में सहयोग दिया है।

यदि प्रारब्ध में होगा और कोई सत्प्रकाशक मिला अथवा मेरे पास स्वयं ही आर्थिक संसाधन जुट पाया तथा स्वास्थ्य ठीक रहा तो पूर्ण विवृति के साथ पूरी पुस्तक को अवश्य प्रकाशित देख पाऊँगा। सम्प्रति इतने ही अंश पर विद्वानों की सम्मति एवम् आवश्यक सूचना का आकाङ्क्षी हूं, जिससे भविष्य में मुझे अपने को सुधारने का अवसर मिलेगा। शिवम्।

कृष्णेन्द्र राज भवन, गोरखपुर — **राजकिशोर मणि त्रिपाठी**

विजया दशमी, २०४९ वि०

माँ की स्मृति में



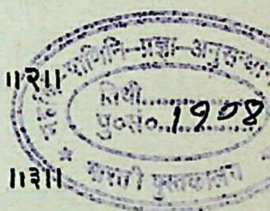
राजकिशोर मणि

श्री :

दुर्गासप्तशती

देवी माहात्म्य

विघ्नाकरं गणेशञ्च गौरीं मृत्युञ्जयं तथा
नारायण हनूमन्तं श्रेयसे प्रणमाम्यहम् ।।१।
दुर्गासप्तशतीनाम्ना ग्रन्थो यः प्रथितो भुवि
देवीमाहात्म्यशव्देन मार्कण्डेयेन स स्मृतः ।।२।।
देव्याः स्वरूपमुत्पत्तिः कार्यं तस्याः जगत्प्रति
इत्येवं बहवः प्रश्ना मेधसाऽत्र समाहिताः ।।३।।
प्रणम्य पितरौ स्वीयावाम्बिका श्यामसुन्दरौ
ग्रन्थं प्रसिद्धमप्येनं विवृणोमि यथामति ।४।।
क्व महच्चरितं देव्याः क्वाहं मन्दमतिस्तथा
महामायानुभावेन प्रवृत्तिर्मेऽत्र कर्मणि ।।५।।
विद्वांसो वहवश्चात्र विषये व्यलिखन् बहु
अल्पज्ञस्य ममात्रापि लेखनं नहि दूषणम् ।।६।।
स्वप्रवृत्यनुसारेण विषयो वर्ण्यते नरैः
कदाचिद् विवुधैस्तत्र किञ्चिद् ग्राह्यमवाप्यते ।।७।।
इत्येवं मतिमास्थाय महामायाकृपेच्छुना
वृत्तिः राजकिशोरेण क्रियते मातृभाषया ।।८।।



ॐ नमश्चण्डिकायै

भगवान् वेदव्यास के महाभारत का पूर्णतः अध्ययन करने के बाद भी उनके महातेजस्वी शिष्य जैमिनि के मन में कुछ शङ्कायें रह गई थीं जिन्हें दूर करने के लिए वे महामुनि मार्कण्डय के पास गये। उनकी शङ्कायें थीं।

१. निर्गुण भगवान् जनार्दन क्यों मनुष्य रूप धारण किये ?

२. अकेली द्रौपदी क्यों ५ पतियों की स्त्री बनी ?

३. तीर्थ यात्रा के द्वारा बलराम ने ब्रह्महत्या जन्य पाप का निवारण कैसे किया ?

४. द्रौपदी के पांचो पुत्र अनाथ की तरह क्यों मारे गये ?

अपने कार्याधिक्य के कारण मार्कण्डेय ने जैमिनि को जिज्ञासा शान्त्यर्थ रेवातटवर्ती विन्ध्यक्षेत्र निवासी द्रोणपुत्र ४ पक्षियों के पास जाने को कहा। द्रोण तथा तार्क्षी के इन चारों सन्तानों का नाम पिङ्गाक्ष, विवोध, सुपुत्र तथा सुमुख था। तार्क्षी के ४ अण्ड महाभारत की युद्धभूमि में गिर पड़े थे तथा राजा भगदत्त के गज के गिरे हुए घण्टे के नीचे पड़ कर सुरक्षित बच गये थे। इन्हें ही युद्धान्त में ऋषि शमीक ने निकाल कर पालित किया था। पूर्वकाल के ऋषि तथा शापग्रस्त पक्षियोनि में उत्पन्न इन चारों पक्षियों को पूर्व जन्म के वृत्तान्तों का स्मरण था। वे बुद्धियुक्त तथा धर्म वेत्ता थे। जैमिनि ने उनका साक्षात्कार किया तथा अपने प्रश्नों का समाधान पाया। इसके साथ ही इन्होंने उस विषय को भी जाना जिसे ऋषि मार्कण्डेय से क्रौष्टुकि ने जाना था। क्रौष्टुकि का दूसरा नाम भागुरि भी था।

मन्वन्तरों की चर्चा करते हुए सातवें वैवस्वत मनु के विषय में बताने के बाद अष्टम मनु की उत्पत्ति के विषय में बताते हुये ऋषि मार्कण्डेय ने प्रसङ्ग वश उत्तम देवी माहात्म्य के विषय में भी प्रकाश डाला था। प्रस्तुत देवीमाहात्म्य तेरह अध्यायों में कहा गया है। इसमें भी मेधा ऋषि की चर्चा आती है जिन्होंने इस माहात्म्म को सुरथ से कहा था। इस प्रकार पुराकाल के मेधा सुरथ

---

(१) मार्कण्डेय पुराण ७२/३९

सम्वाद को मार्कण्डेय ने क्रौष्टुकि से बताया तथा सम्प्रति उसी कथा को पक्षी जैमिनि से कह रहे हैं।

(हे जैमिनि पहले) मार्कण्डेय ने क्रौष्टुकि से कहा।

'मार्कण्डेय उवाच'

मार्कण्डेय ने कहा– यह दुर्गा सप्तसती का प्रथम मन्त्र तथा मार्कण्डेय पुराण के ८१ वें अध्याय का प्रारम्भिक वचन है । 'मृकण्डोः अपत्यं पुमान्' इस विग्रह में मृकण्डु शब्द से 'शुभ्रादिभ्यश्च' (पा० ४.१. ११३) से ढक् प्रत्यय करने पर इस शब्द की निष्पत्ति सिद्ध होती है। इन दोनों पदों के बीच में विसर्ग की अनुपस्थिति सन्धि के कारण होती है पाठ करते समय दोनों पदों के उच्चारण में थोड़ा रुकना चाहिये। चिरजीवी मार्कण्डेय का प्रथमतः नामोच्चारण मङ्गलार्थक भी है।

मेरु की कन्या नियति का विवाह भृगु पुत्र विधाता के साथ हुआ था। इनकी ही सन्तान मृकण्डु था। मृकण्डु से मनस्विनी में उत्पन्न पुत्र का नाम मार्कण्डेय था, जिनकी स्त्री का नाम धूम्रवती तथा पुत्र का नाम वेदशिरा था।[1] इनका इतिहास कई पुराणों में मिलता है। पुराण के अनुसार इन्हें अल्पायु योग था पर भगवान शंकर की कृपा से इन्होंने चिरजीवन प्राप्त किया, जिसकी सीमा सात कल्प थी।[2] इन्हें दीर्घायुष्ट्व मिला, यह सुविदित है पर कैसे मिला इसमें कल्पभेद के कारण अनेक कारण दिखाई देते हैं। पद्मपुराण के अनुसार यह दीर्घायुष्ट्व इन्हें ब्रह्मा से मिला था।[3] नरसिंहोपपुराण के अनुसार विष्णु से दीर्घायुष्ट्व मिला था।[4] पितरों की कृपा से इन्हें इसकी प्राप्ति हुई थी, ऐसा भी वचन मिलता है।[5] इनका वर्ण दीप्त अग्नि के समान था तथा यह अनुपम सत्वसम्पन्न एवं देवों, ऋषियों तथा मनुष्यों से पूजित थे।[6]

अपने वर्षगाँठ पर इनके पूजन से रूप, वित्त तथा आयु की प्राप्ति होती है। इनका ध्यान—

द्विभुजं जटिलं सौम्यं सुवृद्धं चिरजीविनम्।
मार्कण्डेयं नरो भक्त्या पूजयेत् प्रयतः शुचिः –है तथा

पूजन के अन्त में निम्नलिखित श्लोकों से इनकी प्रार्थना की जाती है।[7]

---

(१) मार्कण्डेय पुराण ५२/१४-१७
(२) पद्म
(३) पद्मपुराण सृष्टि १५५/३०१
(४) नरसिंह पुराण (श. क. द्रु.)
(५) हरिवंश १७/३
(६) महाभारत वनपर्व २५/५
(७) कर्मकाण्ड प्रदीप पृ० ६२-६३

मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन ।
आयुरिष्टार्थसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव । १ ।
चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने ।
रूपवान् वित्तवांश्चैव श्रिया युक्तश्च सर्वदा ।।२।।

अथवा

मार्कण्डेय नयस्तेऽस्तु सप्तकल्पान्तजीवन ।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं प्रसीद भगवन्मुने ।।१।।
चिरजीवी यथात्वं तु मुनीनां प्रवर द्विज ।
कुरुष्व मुनिशार्दूल तथा मां चिरजीविनम् ।।२।।

विशेष—कुछ हस्तलिखित पोथियों में 'मार्कण्डेय उवाच' से पूर्व एक या दो श्लोक मिलते हैं । पर वे सप्तशती में परिगणित नहीं होते हैं ।

तपस्यन्तं महात्मानं मार्कण्डेयं महामुनिम् । व्यासशिष्यो महातेजा जैमिनिः पर्यपृच्छत् ।
मार्कण्डेय महाप्राज्ञ सर्वशास्त्र विशारद । श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण देवीमाहात्म्यमुत्तमम् ।।

सावर्णिः सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेऽष्टमः ।
निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम ।।१।।

इस श्लोक का 'सूर्यतनयः सावर्णिः यः अष्टमः मनुः कथ्यते, तदुत्पत्तिं विस्तरात् गदतः मम निशामय' ऐसा अन्वय होता है । इसके वक्ता मार्कण्डेय तथा श्रोता क्रौष्टुकि हैं, जिनका दूसरा नाम भागुरि भी है । इसका अर्थ होता है—(हे क्रौष्टुकि) सूर्य के पुत्र (तथा) सवर्णा के पुत्र, जो आठवें मनु कहे जाते हैं, उनकी उत्पत्ति को, शब्द के विस्तार का समाश्रय लेकर कहते हुए मुझसे, जानो ।

मार्कण्डेय पुराण के ८० वें अध्याय के अनुसार क्रौष्टुकि ने सात मनुओं के विषय में जानने के बाद ऋषि मार्कण्डेय से अवशिष्ट मनुओं के विषय में जब कुछ जानने की प्रार्थना किया तो उन्होंने पहले कही हुई कथा का उद्धरण देते हुए बताया कि सवर्णा (छाया) के जिस पुत्र के विषय में बताया गया है वह ही आठवां मनु होगा । आठवें मनु के विषय में आवश्यक सूचना देने के बाद ८१ वें अध्याय में करुणा प्रेरित मार्कण्डेय ने होने वाले ८वें मनु के पूर्ववृत्तान्त को भी बताना चाहा । इस वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि देवी की कृपा से ही उन्हें ८ वां मनु होने का आश्वासन प्राप्त है । अकारण कारुणिक ऋषि को इस प्रसङ्ग में सामान्य जिज्ञासुगण को भी देवीमाहात्म्य के विषय में व्युत्पन्न करने

की इच्छा थी । फलस्वरूप उन्होंने इस विषय को क्रौष्टुकि को सावधानी से जानने को कहा ।

प्रस्तुत प्रकरण को ठीक से जानने के लिए पूर्वपीठिका के रूप में कुछ पौराणिक मान्यताओं को जानना आवश्यक है। पुराणों के अनुसार इस सृष्टि की उत्पत्ति एवं विनाश होता रहता है। 'जो उत्पन्न होगा उसका विनाश अवश्य होगा' यह शाश्वत नियम है। इसीलिए जीवन की अवधि तथा पुनर्जन्म का अन्तराल दोनों का माप करना भी आवश्यक हो जाता है । इस माप का आधार काल होता है। उदाहरणार्थ—'शतं जीवेम शरदः' की माँग करने वाले मानवों की आयु सामान्यतः १०० वर्ष की मानी जाती है। भले ही कर्त्तव्यानुसार वह कुछ कम या अधिक हो जाय। वर्ष का विभाजन मास, पक्ष, दिन, घण्टा, मिनट, सेकेण्ड में होता है। आयुभोग कर प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है तथा पुनः कुछ काल बाद सामान्यतः जन्म लेता है। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति विनाश तथा उसकी पुनरुत्पत्ति के नियमों के विषय में भी योगज प्रत्यक्ष करने वाले तथा त्रिकालाबाधित ज्ञान रखने वाले ऋषियों ने जनकल्याणार्थ पुराणों में चर्चा की है। तदनुसार १२ माह वाले मानवीय वर्ष के ४३२०००० बार बीतने पर जो अवधि पूरी होती है उस काल को महायुग कहा जाता है। इस महायुग के प्रथम भाग को सत्ययुग, द्वितीय भाग को त्रेतायुग, तृतीय भाग को द्वापर युग तथा चतुर्थ भाग को कलियुग कहा जाता है, जिनकी अवधि क्रमशः १७२००००, १२९६००० ८६४००० तथा ४३२००० वर्ष की होती है। सम्पूर्ण का योग ४३२०००० वर्ष का होता है। इस अवधि को यदि १००० से गुणा कर दें तो ४३२०००००० मानवीय वर्ष होते हैं, जिन्हें हम ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं।[1] ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु अपना काल व्यतीत करते हैं। प्रत्येक मनु के जीवन में ७१ बार खण्ड प्रलय होता है। ब्रह्मा के अपने जीवन की पूर्णता प्राप्त करने पर महाप्रलय होता है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का चक्र चला करता है। प्रत्येक सृष्टिकाल को एक कल्प कहते हैं। एक ब्रह्मा जाता है पुनः दूसरा आता है तथा पुनः सृष्टि होती है। इस प्रकार कल्पों की श्रृंखला चलती रहती है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि यह सृष्टि भी कई प्रकार की होती है। जैसे प्रतिवर्ष बर्षा शीत तथा ग्रीष्म ऋतुयें होती हैं तथा कृषक

(१) चत्वारि भारते वर्षे युगानि मुनयो विदुः । कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यंचेति चतुर्युगम् । एतत्सहस्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणः स्मृतम् । वायुपुराण—२४।१.२ । अथ संवत्सराः सृष्टा मानुषेण प्रमाणतः । ५७।२२—२६

कृति के द्वारा वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। वस्तुओं का उत्पत्तिप्रकार एक ही होता है फिर भी कुछ घटनायें नूतन होती रहती हैं। ठीक उसी प्रकार प्रतिकल्प में घटनायें दुहराई जाती हैं पर कुछ भेद के साथ। इसी प्रकार प्रलय के विषय में कहा जा सकता है। जैसे एक व्यक्ति एक दिन का कार्य समाप्त करके रात्रि में सोता है तथा दूसरे दिन जगकर विगत दिनों के कार्यों को पूरा करता है तथा एक जीवन को समाप्त करके दूसरे जीवन के कार्यों का प्रारम्भ करता है पर बीच की प्रक्रिया में भेद रहता है वैसे ही ब्रह्मा के एक दिन के अवसान में होने वाला प्रलय तथा पुनः सृष्टि एवं ब्रह्मा के ही अवसान के बाद होने वाला प्रलय एवं सृष्टि में भी प्रक्रिया भेद होता है। इसी प्रक्रिया को आधार बनाकर ब्राह्मकल्प, वाराहकल्प तथा पाद्म कल्प की चर्चा आती है।[१] पाद्म सृष्टि अनेक बार होती है। वाराही सृष्टि उससे कुछ कम होती है तथा ब्राह्मी सृष्टि उससे भी कम होती है।

गणना के अनुसार ब्रह्मा की परमायु जो १५५५२०००००००००० मानवीय वर्ष की होती है वह सहस्र से गुणित होने पर विष्णु की एक घटी होती है। विष्णु के भी १२ लाख वर्ष रुद्र का कलार्द्ध माना जाता है। रुद्र की अर्बुद संख्या बीत जाने पर एक ब्रह्माक्षर बनता है।[२] इस काल विभाजन से यह भी स्पष्ट होता है कि सृष्टि के अतिसूक्ष्म एवं चिरन्तन कारणों में अनेक कारणों से उसका माप करना होगा। इसे ही ब्रह्मसर्ग, विष्णुसर्ग तथा रुद्रसर्ग कहते हैं।

सम्प्रति जिस अवधि में हम जी रहे हैं उसके विषय में अपने परम्परगा स्मृत सङ्कल्पवाक्य से जानते हैं कि वर्तमान ब्रह्मा के एक दिन की चौथाई बीत चुकी है तथा दूसरी चौथाई प्रारम्भ हो चुकी है। इस सृष्टि में जलमग्न पृथ्वी का उद्धार जिस वाराह ने किया है वह श्वेत वाराह हैं। इनका प्रथम स्वरूप स्कन्दपुराण ३।२।१४–१६ में लिखा मिलता है। यह काल ७वें वैवस्वत मनु का है। इसमें २८वीं युग परम्परा चालू है, जिसका सम्प्रति कलियुग है। इसमें ५०९० सौरवर्ष बीत चुके हैं। इस मनु के सम्पूर्ण जीवन बीतने के बाद सावर्णि मनु का काल प्रारम्भ होगा।

---

(१) ब्रह्मवैवर्त १।५

(२) चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते। निजेनैव तु मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम्
पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिका स्मृता।
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि पलार्द्धं रौद्रमुच्यते।
रुद्रस्यार्बुद संख्याभिस्ततो ब्रह्माक्षरं भवेत्॥

इस विवेचन का निष्कर्ष है कि तीन प्रकार के सर्गों में विभक्त, अनेक प्रकार के कल्पों में विभक्त तथा अनेक मनुकालों में विभक्त यह सृष्टिचक्र अपने आदि और अवसान की अनेक कहानियों को अपने में समाहित रखता है। इन पुरा कथाओं को चरित की दृष्टि से देखना चाहिए। समय और कथा की एकरूपता से इन पर विचार नहीं करना चाहिए। ऐसा करना पुराणों का उपहास करना है। समय और कथा की एकरूपता का इतिहास चिरन्तन सत्य नहीं है, अपितु, विनाशी, निश्चित कालावधिक, पक्षपाती तथा सापेक्षी है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि यह सृष्टि प्रलय अनन्त ब्रह्माण्ड में एक साथ ही नहीं होता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की संरचना ही इस प्रकार से हुई है कि उसका विनाश एक साथ हो ही नहीं सकता है। इस प्रकार एकरूपता तथा सातत्य भी सदा वर्तमान रहता है। इसीलिए शास्त्रकार का कहना है कि– न कदाचिदनीदृशं जगत्'।

मनु–ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु की जीवनावधि समाहित होती है। मार्कंण्डेय पुराण के अनुसार इन चौदहों मनु का नाम है–१. स्वायम्भुव २. स्वारोचिष ३. औत्तमि ४. तामस ५. रैवत ६. चाक्षुष ७. वैवस्वत ८. सार्वाण ९. दक्षसार्वाण १०. ब्रह्मसार्वाण ११. धर्मसार्वाण १२. रुद्रसार्वाण १३. देवसार्वाण १४. इन्द्रसार्वाण। चौदह मनु के नाम सूची में अनेक पुराणों में भेद भी दिखाई देता है। वर्तमान वैवस्वत मनु की कालसमाप्ति के बाद सार्वाण मनु का कालारम्भ होगा। वैवस्वत मनु का दूसरा नाम श्राद्धदेव भी है। इस प्रसङ्ग में मार्कंण्डेय पुराण का कहना है कि—

विवस्वान् (सूर्य) का विवाह विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा से हुआ था। विवस्वान् से सज्ञा में उत्पन्न वैवस्वत कहा जाता है। अत्यन्त तेजस्वी विवस्वान् के समक्ष संज्ञा को अपने नेत्रों पर संयम रखना पड़ता था। नेत्रसंयम से क्षुब्ध सज्ञा के दूसरे पुत्र का नाम यम पड़ा। जिसके जिम्मे प्रजा के संयमन का भार निहित किया गया है। विवस्वान् के तेज से जब संज्ञा व्याकुल हो गई तथा उसकी दृष्टि चचल हो गई तो सूर्य को संज्ञा का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा था। उन्होंने कहा कि–'संज्ञे! मेरे देखने से तुम्हारी दृष्टि विलोला चचल हो जाती है अतः तुम्हें सतत चलने वाली पुत्री होगी'। संज्ञा की इस कन्या का नाम यमुना है इसलिए कार्तिकी यमद्वितीया को यमुना के तटपर भगिनी के हाथ भ्राता का भोजन करना यमुना के निवेदन पर यम के लिए प्रीति उत्पन्न करने वाला माना जाता है।

संज्ञा अपनी दुर्दशा से त्रस्त होकर अपनी छाया को अनुप्राणित किया तथा उससे निवेदन किया कि उसके स्थान पर वही सूर्य की सेवा में रहे और अपने को संज्ञा नाम से घोषित करें तथा यह भेद सूर्य को न जानने दे। छाया की स्वीकृति मिलने पर वह अपने पिता के घर चली गई। संज्ञा की छाया भी संज्ञा के ही समान वर्ण वाली थी इसलिए उसे बाद में सवर्णा भी कहा जाने लगा। कालान्तर में सवर्णा से विवस्वान् को दो पुत्र एवं एक कन्या की प्राप्ति हुई, जो क्रमशः सावर्णि, शनैश्चर तथा तपती के नाम से विख्यात हुये।

संज्ञा को पितृगृह में अधिक दिन के लिए स्थान नहीं मिला, क्योंकि वह विवाहिता थी। फलतः वह उत्तरकुरु में वडवा (घोड़ी) का रूप धारण कर तपस्या में लीन हो गई। इधर सवर्णा ने संज्ञा के पुत्रों से द्वेष करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन उसने यम के ऊपर पैर भी चला दिया। ज्येष्ठ भ्राता वैवस्वत तो सहनशील थे पर यम को प्रायः ही क्रोध हो जाता था। एक दिन उन्होंने छाया से विरोध भी प्रकट किया। छाया ने कहा तुमने मुझे डराया है अतः तुम्हारे पैर तुमसे अलग हो जायेंगे'। माता पुत्र को शाप दे, यह एक अद्‌भुत घटना थी। यम ने पिता से इसे बताया। सूर्य को अब तक संज्ञा का जाना तथा सवर्णा का आना नहीं ज्ञात था। उन्होंने छाया से शाप का कारण पूछा था। समुचित उत्तर न मिलने पर उन्हें सन्देह होने लगा। विशेष जिज्ञासा पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह वस्तुतः संज्ञा है ही नहीं, संज्ञा तो अपने पितृगृह चली गई है क्योंकि उसे सूर्य का दुर्धर्ष रूप असह्य हो उठा था। सूर्य विश्वकर्मा के यहाँ गये। वहाँ ज्ञात हुआ कि संज्ञा तो कभी की सूर्य के यहाँ लौटा दी गई थी। सूर्य ने ध्यान से पता लगाया कि त्रस्त संज्ञा उत्तरकुरु में बडवारूप से तपस्या कर रही है। सूर्य ने विश्वकर्मा से अपने रूप को सौम्य बनाने के लिए प्रार्थना किया। विश्वकर्मा ने उन्हें तराशा और सौम्य बना दिया। तराशे हुये टुकड़ो से ही विष्णु का चक्र तथा शंकर का त्रिशूल आदि बना।

दयार्द्र सूर्य अश्व रूप धारण कर उत्तरकुरु मे संज्ञा के पास गये। संज्ञा ने उन्हें पहचाना नहीं अतः उनके समक्ष पत्नी के समान व्यवहार नहीं किया। सूर्य की नासिका से संज्ञा की नासिका का संयोग हुआ, जिससे दो अश्वमुख पुत्र जन्म लिये, जिन्हें अश्विनी कुमार कहते हैं तथा जो देवों के वैद्य हैं। सूर्य के स्खलित रेतस् से एक पुत्र का जन्म हुआ जो रेवन्त कहलाया। पुनः परिचय होने पर सूर्य संज्ञा को अपने साथ लाये। इस प्रकार संज्ञासुत वैवस्वत

को आजकल मनु की पदवी प्राप्त हुई है तथा सवर्णासुत सार्वणि को इसके बाद मनु बनना है।

यहां यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक मनु के काल में प्रजापति, देवगण इन्द्र तथा सप्तर्षि भी भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे वर्तमान वैवस्वत मनु के काल में निम्न प्रकार की तालिका बनती है।

मनु	प्रजापति	देवगण	इन्द्र	सप्तर्षि	लोक
वैवस्वत	मरीचि	आदित्य, वसु,	उर्जस्वी	अत्रि, भरद्वाज	१. भू–भूमि
		रुद्र, साध्य,		वशिष्ठ, विश्वामित्र	२. अन्तरिक्षद्यु
		विश्वदेव, मरुद्		कश्यप, जमदग्नि	३. स्वर्ग–दिव्य
		भृगु, अङ्गिरा		गौतम	

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार की कथायें रूपक नहीं होती हैं। भूमण्डल में यह घटना हुई है, द्युमण्डल में होती रहती है तथा देहमण्डल में भी इसकी आवृत्ति होती रहती है। इसलिए इसकी त्रिविध व्याख्यायें होती हैं, जिन्हें आधिभौतिकी, आधिदैविकी तथा आध्यात्मिकी व्याख्या कहते हैं। तपस्या और स्वाध्याय से विरहित आजकल के लोग इसे गप्प समझते हैं अथवा माइथोलाजी कह कर छुटकारा लेते हैं। वे यह नहीं जानते हैं कि जिस प्रकार आजकल भी सांकेतिक भाषा (कोड लैंग्वेज) का व्यवहार होता है उसी प्रकार प्राचीन काल में भी था। इसे हम लौकिकी भाषा, परकीया भाषा तथा समाधि भाषा से जानते हैं। लौकिकी भाषा में आधिभौतिक अर्थ, परकीया भाषा में आधिदैविक अर्थ तथा समाधि भाषा में आध्यात्मिक अर्थ को कहने की शैली है। एक ही भाषा के भी त्रिविध शक्तियों से त्रिविध अर्थ होते हैं और वे सभी सत्य होते हैं। अधिकारिभेद से उनका उपयोग होता है।

अस्तु, प्रकृत प्रसङ्ग में ऋषि मार्कण्डेय को उस तत्त्व की ओर ध्यान दिलाना अभीष्ट है जिसके कारण आठवें मनु को मनुपदवी प्राप्त होगी। वह तत्त्व देवीतत्त्व-शक्ति तत्त्व या चण्डी तत्त्व है। फलतः अग्रिम प्रसङ्ग में सार्वणि ही कैसे सार्वणि मनु होगा तथा वह पूर्व में क्या था, इसकी कथा बताई जायगी।

सार्वणिः–'सवर्णाया अपत्यं पुमान्' इस विग्रह में बाह्वादिभ्यश्च से (अष्टा॰ ४–१–९६) इञ् प्रत्यय होता है। अन्यथा 'स्त्रीभ्योढक्' से ढक् होकर सावर्णेय रूप बनता। सवर्णा के पुत्र होने के कारण इन्हें सार्वणि कहा जाता है अथवा ज्येष्ठ भ्राता वैवस्वत के समान वर्ण होने के कारण सार्वणि

कहा जाता है।[१] यहां व्युत्पत्ति होगी–समानः वर्णः अस्य इति सवर्णः। सवर्ण एव सावर्णिः।

सूर्यतनयः–सूर्य पुत्र होने के कारण इन्हें सूर्यतनय कहा गया है। इस विशेषण का हेतु यह भी है कि अग्रिम नवें से चौदहवें तक के ६ मनु भी सावर्णि होंगे पर वे सूर्य पुत्र नहीं होंगे। इसी प्रकार सूर्यतनय विशेषण रहने पर वैवस्वत का बोध न हो जाय, इसके लिए सावर्णिः पद भी दिया गया है।

कथ्यते–कथ धातु से कर्मवाच्य में वर्तमान कालिक रूप 'कथ्यते' का अर्थ होता है–कहा जाता है। अष्टम मनु अभी होने वाले हैं। अतः उचित प्रयोग होता 'कथयिष्यते'। पर कथ्यते का प्रयोग उस ऋषि की दृष्टि से उचित है जो त्रिकालदर्शी तथा सप्तकल्पान्तजीवी है।

तदुत्पत्तिम्–उस सावर्णि की उत्पत्ति को अर्थात् आगामी सावर्णि मनु बनने की कहानी को।

विस्तरात्–शब्दप्रपञ्च को विस्तर कहा जाता है यहां 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' से पञ्चमी हुई है। अतः अर्थ होगा 'शब्दप्रपञ्चमाश्रित्य'। अर्थात् 'शब्द का प्रपञ्च लेकर' कहते हुये मुझसे जानो-जानीहि। अतः 'विस्तारपूर्वक कहता हूँ उसे जानो' अर्थ करना अशुद्ध है। शब्दप्रपञ्च से भाषा का वैशिष्ट्य अपेक्षित है, न कि, कथाविस्तृति। यही कारण है कि ५७८ श्लोक वाले देवीमाहात्म्य से ७०० मन्त्र वाली सप्तशती का निर्माण हुआ। ऐसे तो यह कथा कई पुराणों में विस्तार पूर्वक कही गई है।

गदतो मम–इसमें अपादान की शेषत्व विवक्षा में षष्ठी हुई है।[२] कुछ टीकाकारों ने 'गद्यते अनेन इति गदः मुखम्' ऐसी व्युत्पत्ति करके गद का अर्थ मुख तथा गदतः का अर्थ मुखात्–मुख से किया है तथा कुछ सकाशात् पद का अध्याहार करके 'मेरे द्वारा' ऐसा अर्थ करते हैं।

निशामय–आ+लोचनार्थक चौरादिक शम् धातु के लोट् के मध्यम-पुरुष की इस क्रिया का अर्थ होता है जानो–कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ

१ मार्कण्डेयपुराण ८०/२

विष्णुपुराण–छाया संज्ञा सुतो योऽसौ द्वितीयः कथितो मनुः
पूर्वजस्य सवर्णोऽसौ सावर्णिस्तेन कथ्यते।

२ शेषत्व विवक्षा को हृदयंगम करने के लिए 'सिद्धान्त कौमुदी (कारक प्रकरण)' में प्रकृत वृत्तिकार की वृत्ति देखें।

'सुनो' किया है, जो उचित नहीं है। जानो का तात्पर्य है–सावधान होकर देखो–दत्तावधानः सन् पश्य। निशामय का ऐसा प्रयोग–'निःशर्करमिद तीर्थं भरद्वाज निशामय आदि स्थलों में मिलता है।

विशेष-(क) आधिभौतिकी दृष्टि से स्पष्ट है कि सूर्य की दो स्त्रियों से जो दो पुत्र हुये उनमें प्रथम वर्तमान मनु है तथा द्वितीय आगामी मनु होगा। आगे की कथा बताती है कि द्वितीय मनु ने अपने पूर्व जीवन में देवी की उपासना करके भविष्य में अपने लिए मनु होने का स्थान सुरक्षित कर लिया था। निष्कर्ष यह है कि सभी मनुष्यों को ऐहिक तथा आमुष्मिक सुखों की प्राप्ति के लिए देवी की उपासना करनी चाहिये। इसीलिए कहा जाता है कि–

यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षो यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव
(अशेष कल्पवल्लरी–उद्‌धृत–कैवल्याश्रम)

(ख) संसार की सभी वस्तुओं का बोध पदों–शब्दों के द्वारा होने के कारण उन्हें पदार्थ कहा जाता है। पद और पदार्थ का विस्तार ही संसार है। पद से वाणी का बोध होता है। शेष को अर्थ कहते हैं। वाक् की प्रवृत्ति भी अर्थरूप में प्रकट होती है। इसे ही शक्ति तथा शक्तिमान्, शक्ति और शिव आदि शब्दों से कहा जाता है। संक्षेप में शक्ति को शक्तिमान् से जानना होगा तथा शक्तिमान् की प्राप्ति शक्ति से होगी। पदों की निर्मिति वर्णों से होती है। फलतः वर्णमाला ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। व्यावहारिकी वर्णमाला तो बहुत स्थूल है। इसके सूक्ष्म रूप के ज्ञान से ही शक्ति शक्तिमान् रूप विश्व-जनीन तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी सूक्ष्म रूप को मन्त्र कहते हैं।

जिस देवी तत्त्व की ओर आगे मार्कण्डेय इङ्गित करेंगे, उसको जानने एवं पाने का जो उपाय है वह भी इसी श्लोक में इङ्गित है, जिसे बीज मन्त्र कहा जाता है। बीजमन्त्र से ही मन्त्र का पूर्ण विकास तथा मन्त्रात्मिका शक्ति की उपलब्धि होती है। उस बीज मन्त्र को निकालने की विधि निम्न-लिखित है।

तन्त्र की साङ्केतिकी भाषा में वर्ण तथा मन्त्र को मनु कहा जाता है। प्रकाशक सूर्य अपने अस्त समय में अपने प्रकाश स्वरूप कार्य को अग्नि के जिम्मे सौंपता है। इसलिए अग्नि को सूर्यतनय कहा जाता है। अग्नि पद से रेफ–र वर्ण का बोध होता है। सवर्णा शब्द से प्रकृति का बोध होता है,

क्योंकि वही मूलतः त्रिनयना अर्थात् शुक्ल लोहित कृष्णवर्ण वाली होती हैं। प्रकृति देवी के लिए इ वर्ण का प्रयोग किया जाता है। सभी बीज मन्त्रों में विशेषतः अनुच्चार्य रूप देवी तत्त्व का प्रयोग होता है, जिसे अनुस्वार कहते हैं। इतना जानने के बाद इस श्लोक का अर्थ कीजिये।

यः—यकारान् अष्टमः मनुः—वर्णः हकारः सूर्यतनयः सन् रेफेण युक्तः सन् तथा सावर्णिः-सावर्णिना ईकारेण युक्तः सन् अनुस्वारेण युक्तश्च सन् (ह्+र्+ई+ ं) 'ह्रीं' इति मन्त्ररूपं लभते। तदुत्पत्ति तत्प्रकृतिक व्युत्पत्ति-ह्रीं प्रतिपाद्यदेव्युत्पत्ति विस्तरात् गदतो मम निशामय अर्थात् यकार अक्षर से आठवें हकार को यदि रेफ तथा ईकार से संयुक्त करके अनुस्वार लगा दें तो ह्रीं बीज मन्त्र बन जाता है। इतना अर्थ सावर्णिः सूर्यतनयो यो मनुः कथ्यतेष्टमः' का होता है। निशामय तदुत्पत्ति विस्तराद् गदतो मम' का अर्थ स्पष्ट है। अर्थात् उस ह्रीं से बोध्य देवी की उत्पत्ति को (हे क्रौष्टुकि) विस्तर अर्थात् शब्द प्रपञ्च का आश्रय लेकर-शब्द से अर्थ करने की पद्धति विशेष का आलम्बन लेकर कहते हुये मुझसे जानो। ह्रीं को मायाबीज कहा जाता है जो महालक्ष्मी का बाचक है महालक्ष्मी तत्व की ओर 'सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी आदि शब्दों से रहस्य में इङ्गित किया गया है। इस आद्यतत्त्व की ओर यथास्थान निर्देश किया जायगा।

(ग) यह जानने की बात हैं कि घटक द्रव्यों से निर्मित वस्तु का जब विनाश होता है तब वस्तु के स्वरूप का ही विनाश होता है, मूल घटक द्रव्यों का नहीं। प्रलय काल में भी अनन्त ब्रह्माण्ड के एक अंश की स्वरूपच्युति होती है। पुनः घटक द्रव्यों के संयोग होने पर उस वस्तु का निर्माण हो जाता है। अपनी दृष्टि के अनुसार आप उसे नूतन वस्तु भी कह सकते हैं तथा वस्तु की पुनरावृत्ति भी मान सकते हैं। इस प्रकार सभी द्रव्यों का जहां मूल रूप सुरक्षित होता है उसे स्थिति तत्त्व की संज्ञा तथा जहाँ से नूतन वस्तु की उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश होता है उसे सृष्टि स्थिति विनाश की संज्ञा दी जाती है। यह क्रम संसार में चलता रहता है। अग्नि के गोला-हिरण्यगर्भ-से पृथ्वी का अलग होना, पृथ्वी के परिसर में समुद्र से चन्द्रमा का निकलना, निकलने की प्रक्रिया को मन्थन कहना, भूमि के पृथक हुये भाग को पृथ्वीपुत्र—भौम कहना आदि भी उसी आद्य स्थिति की सत्ता की ओर संकेत करते हैं। सृष्टि के आदि में स्वयम्भू शक्ति की विशेष अवस्था को मनु कहा जाता है। सूर्य की विशेष शक्ति ही मनु है, जो मानवों की उत्पत्ति का कारण है। इस मनु के निर्माण का श्रेय सूर्य को नहीं है, अपितु, विशेष मूल स्थिति तत्व को है,

जिसे तन्त्रशास्त्र में महालक्ष्मी तत्त्व कहते हैं तथा जिसका वाचक शब्द ह्रीं है। मनुशक्ति सम्पन्न मानवों के भी पूर्ण विकास के लिए मनुत्वबोध अत्यन्त आवश्यक है। द्युमण्डल में होने वाली इन घटनाओं की स्मृति भी मानवों को रखनी चाहिए तथा तदनुकूल व्याख्या जाननी चाहिए, ऐसा भी निर्देश इस श्लोक के द्वारा होता है। द्युमण्डल के भावी परिवर्तन की ओर इङ्गित करने के लिए ही यहां बभूव और भविता की कहानी मेधा के जबानी दी गई है।

(घ) सत् चित् तथा आनन्द रूप शक्तिसम्पन्न परमेश्वर के अविनाशी अंश जीव को अपने पूर्व स्वरूप की उपलब्धि जिस प्रकार से हो सकती है, इसका भी ज्ञान जीव को रखना है। इसके लिए विनाशी शरीर को किस प्रकार माध्यम बनाया जा सकता है, इधर भी ध्यान दिलाना आवश्यक समझ कर ऋषि मार्कण्डेय ने क्रौष्टुकि का ध्यान आकृष्ट किया है। क्योंकि अष्टपाशयुक्त मानव को शक्ति सम्पन्न सार्वणि मनु बनाना ही ऋषि का परम ध्येय है।

महामायानुभावेन यथा मन्वन्तराधिपः।
स बभूव महाभागः सार्वणिस्तनयो रवेः ॥ २ ॥

पूर्व श्लोक में सूर्य से सवर्णामें उत्पन्न पुत्र सार्वणि की मनु बनने की कहानी जानने के लिए क्रौष्टुकि को सम्बोधित करके ऋषि मार्कण्डेय इस श्लोक में बताते हैं कि इस श्लोक में पूर्व श्लोक के "निशामय"—जानो—पद की अनुवृत्ति आती है। मन्वन्तर का अधिप ही मनु कहलाता है।

स रवेः तनयः महाभागः सावर्णिः यथा महामायानुभावेन मन्वन्तराधिपः बभूव (एतद् जानीहि)। अर्थात् सूर्य का वह महाभाग पुत्र जो सवर्णा से उत्पन्न हुआ, जिस प्रकार महामाया के अनुभाव से, मनु बन गया इसे जानो।

यथा शब्द के रहने पर तथा शब्द का आक्षेप होता है। अतः इस श्लोक में जिस प्रकार से सार्वणि मनु बना, उस प्रकार को जानने के लिए ऋषि मार्कण्डेय भागुरि को सम्बोधित कर रहे हैं। सप्तशती सर्वस्वकार के अनुसार इस श्लोक में तथा और अपि शब्द का अध्याहार करके इसका अर्थ होता है—यथा जिस प्रकार, सः-यह वर्तमान वैवस्वत, मन्वन्तराधिपः बभूव—मनु हुआ, उसी प्रकार रविपुत्र सार्वणि भी मनु बना"। पर यह अर्थ समीचीन नहीं ज्ञात होता है। मार्कण्डेय पुराण के ७७वें अध्याय में वैवस्वत तथा सावर्णि की उत्पत्ति कथा बताई गई है तथा ७८वें अध्याय में यह भी बताया गया है कि विवस्वान्

का प्रथम सुत वैवस्वत मनु बना।[१] ८०वें अध्याय में क्रौष्टुकि पूछते हैं कि महामुनि जिस प्रकार स्वायम्भुव आदि मनुओं तथा उनके काल के राजा और मुनियों को बताया है उसी प्रकार इस अष्टम कल्प में आगे आने वाले अवशिष्ट सात मनुओं के विषय में भी बताइये।[२] इस पर मार्कण्डेय ने कहा कि छाया संज्ञा अर्थात् सवर्णा के पुत्र को बताया ही हूं अपने अग्रज मनु के सदृश वही आठवां मनु होगा।[३] इसके अनन्तर उन्होंने देवी माहात्म्य बताया। इससे सिद्ध होता कि वैवस्वत मनु से तथा देवी माहात्म्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्यथा महामायानुभावेन पद का अन्वय दोनों ओर होने लगेगा इसके साथ ही वैवस्वत के लिए सः का प्रयोग अनुपपन्न है। प्राचीन टीकाकारों ने भी यथा का येन प्रकारेण तथा अध्याहृत तथा का तं प्रकारम् ही अर्थ किया है।[४]

यहां एक सन्देह होता है कि क्रौष्टुकि ने तो अवशिष्ट सातो मनुओं के विषय में तथा उनके काल में आने वाले देवता राजा तथा मुनियों को जानना चाहा था पर मार्कण्डेय कैसे देवीमाहात्य बताने बैठ गये ? इसका उत्तर है कि देवीमाहात्म्य की समाप्ति के बाद ९४वें अध्याय में मार्कण्डेय कहते हैं कि तुम्हारे द्वारा पूछा गया सावर्णिक मन्वन्तर मैंने पूरा कह दिया, जिसमें महिषासुर आदि की घटना है।[५] इसके पहले ८० वें अध्याय में ऋषि देवता आदि के विषय में बताया जा चुका है, इस कथा से सिद्ध होता है कि क्रौष्टुकि ने इस प्रकरण को जानना चाहा था तथा स्वभाव कृपालु जनकल्याणार्थ इसे बताना भी चाहते थे।

महामाया—महती चासौ माया च महामाया। विसदृशप्रतीति के साधन को माया कहते हैं। अर्थात् जिसके कारण जो वस्तु जैसी है वह वैसी न दिखाई पड़े, वह माया है। यह ईश्वर की शक्ति है। इसके कारण ही जगत् की वास्तविकता समझ में नहीं आती है। अनित्य में नित्यज्ञान तथा नित्य के विषय में अज्ञान इसी के कारण होता है। माति अस्यां विश्वम्, मानपितुम् अर्हा आदि व्युत्पत्ति से जिसके अन्दर सारा विश्व ओत प्रोत हो अथवा जो परम पूज्य हो

---

(१) मार्कण्डेय पुराण ७८।२७

(२) स्वायम्भुवाद्याः कथिताः सप्तैते मनवो यथा तदन्तरेषु ये देवा राजानो मुनयस्तथा मा०पु०।८०।१। अस्मिन कल्पे सप्तयेऽन्ये भविष्यन्ति महामुने मनवस्तान् समाचक्ष्व ये च देवाददश्चये मा०पु० ॥८०।२॥

(३) कथितस्तव सावर्णिश्छायासंज्ञासुतश्चयः पूर्वजस्य मनोस्तुल्यः स मनुर्भविताष्टमः

(४) पु० नागोजिभट्टी चतुर्धरीय

(५) सावर्णिकमिदंक् सम्यक्प्रोक्तं मन्वन्तरं तव तथैव देवीमाहात्म्यं महिषासुर घातनम् मा०पु० ।९४।१।
रक्तबीज वधञ्चैव सर्वमेतत्तवोदितम् मा०पु० ।९४।३।

वह माया कहलाती है। यही माया जब अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में अनुभूत हो तो महामाया कही जाती है। इसके एक स्वरूप और कार्य के विषय में इसी अध्याय का ४२वां श्लोक भी द्रष्टव्य है।

अनुभाव—इदम् इत्थं भवतु-यह ऐसा हो-इस प्रकार की इच्छा अनुभाव कहलाती है।

मन्वन्तराधिपः—मन्वन्तरं मनोः कालः (विष्णुपुराण)

महाभाग—महान् भागः भक्तिः भगसमूहो वा यस्य स महाभागः अर्थात् असामान्य गतिवाला अथवा ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य रूप ६ भग समूह वाला व्यक्ति महाभाग कहलाता है।

विशेष—(क) रवि के प्रथम पुत्र वैवस्वत का तो मनु होना पूर्व घटित किन्हीं कारणों से निश्चित ही था और उनका मन्वत्तर उस समय चल ही रहा है जिस समय मार्कण्डेय क्रोष्टुकि को इन मनुओं के विषय में बता रहे हैं। पर यहाँ आसन्न भविष्य में होने वाले आठवें मनु के विषय में बताना अत्यन्त अपेक्षित हैं। इसका कारण है कि इस घटना की विशेषता बताना, जिसके कारण अप्रत्याशित रीति से एक व्यक्ति मनुपदवी को प्राप्त करने की क्षमता तथा आश्वासन प्राप्त कर लिया है।

(ख) इस श्लोक में उपासना के चारो चरणों की व्याख्या मिलती है। उपासना का प्रथम चरण अधिकारी उपासक होता है। सूर्यपुत्र सार्वणि अपने पूर्व जन्म में सुरथ नाम वाले थे।[1] उस समय भी वह स्वरोचिष मनु के पुत्र चैत्र के वंशज थे तथा महाभाग थे।[2] सर्वधर्मनिष्ठ कारणजिज्ञासु ही वस्तुतः उपासना का अधिकारी होता है। उपासना का द्वितीय चरण उपास्य होता है। यहां महामाया पद से उपास्य को पहले ही बता दिया जा रहा है, जिसकी महत्ता आगे बताई जायगी। तृतीय चरण उपासना की विधि होती है। इस श्लोक में यथा' पद के द्वारा उसी ओर इङ्गित किया जा रहा है, जिसकी चर्चा सप्तशती के त्रयोदश अध्याय में होगी तथा चतुर्थ चरण फलप्राप्ति होती है, जिसको मन्वन्तराधिप पद के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। सृष्टि में उत्पन्न मानव के लिए मन्वन्तर का अधिप होने से ऊंचा कोई दूसरा स्थान नहीं हो सकता है।

१– सप्तशती १/३, १३/१४–१५
२– ,, १/६ ,,

(ग) इस श्लोक में रवेः तनयः तथा पूर्व श्लोक में सूर्यतनयः शब्द आया है। पुत्रार्थ में तनय शब्द का ही प्रयोग साभिप्राय है। तनोति कुलम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके उत्पन्न होने से कुल की यशोवृद्धि होती है वह तनय कहलाता है। एक व्यक्ति का प्रथम पुत्र यदि मनु हो और उसका दूसरा पुत्र भी मनु हो जाय तो तनय की सार्थकता उसमें अवश्य विशेषतः रहेगी।

(घ) यहाँ महामायानुभाव पद से किसी उच्च स्थान की प्राप्ति में महामाया के अनुभाव की निमित्तकारणता द्योतित की गई है तथा प्राक्तन कर्मों के संस्कार से 'पुनर्जन्म सिद्धान्त' को व्यवस्थित किया गया है। यहाँ परोक्ष वाचक वभूव पद के द्वारा इस घटना जो अभी होने वाली है। भूतकाल के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इसका तात्पर्य महामाया के अनुभाव की दृष्टि में काल की कोई सत्ता नहीं है, यह बताना है। इसीलिए भविष्य काल में भी भूतकाल का उपचार किया गया है। इस श्लोक में क्रौष्टुकि के लिए कोई क्रिया पद न देकर सावर्णिस्तनयो रवेः' इस पद को दुबारा दिया गया है, जबकि यह पहले श्लोक में कहा ही गया था और सः पद से उसका आक्षेप हो ही जाता। फलतः पूर्व श्लोक से निशामय—जानो पद का अध्याहार करना पड़ता है। सवर्णा से उत्पन्न रवि का पुत्र इस पद की पुनरुक्ति महामाया के प्रति मार्कण्डेय के उस महनीय भाव को द्योतित करता है, जिससे उन्हें पुनरुक्ति में दोष नहीं दिखाई पड़ा। रवेः तनयः तक तो कोई विशेषता नहीं थी क्योंकि रवि का एक पुत्र वैवस्वत तो मनु था ही। पर छाया का पुत्र भी मनु बना। यह आश्चर्य की बात है और यह आश्चर्य तो सप्तकल्पान्तजीवी उस मार्कण्डेय के लिए तो अत्यधिक है, जो सावर्णि के पूर्वजन्म का रहस्य भी जानते है, जिसमें वे अपने अधीनस्थ से भी पराजित हो चुके थे।

(ङ) पूर्व श्लोक से ह्रीं बीज निकला था तथा मार्कण्डेय ने क्रौष्टुकि से उसी ह्रीं मन्त्र प्रतिबाध देवता की उत्पत्ति के विषय में जानने को कहा था। इस श्लोक से 'क्लीं' बीजमन्त्र निकलता हैं। इसका अभिप्राय है कि ह्रीं ही किस प्रकार क्लीं बना यह जानो।

सः—यकारादष्टमः हकारः रवेस्तनयः—रेफेण युक्तः सावर्णिः—ईकारसं युक्तः, स्वत एवं अर्द्धमात्रिकविन्दुयुक्तः ह्रीं इति रूपः मन्वन्तराणाम्—मन्त्रान्तराणाम् अधिपः—श्रेष्ठः यथा—येन प्रकारेण, महाभागः—भासं परदेवतां

गायति इति भागो मन्त्रः[1] ; महान् भागो मन्त्रो यस्य स महाभागः महामन्त्रः ऐश्वर्यधर्मयशः श्रीज्ञानवैराग्याणां समूहः कामनापूरकत्वेन महामायानुभावेन स्वेच्छया महामाया-ह्रीं क्लीं कामबीजः ; बभूव–जातः (तन्निशामय–जानीहि) । अर्थात् क्रमेण ह्रीं–मन्वन्तराधिपः, क्लीं महाभागः जातः–रूपान्तरे प्रादुर्भूतः इत्यर्थः ।

स्वारोचिषेऽन्तरे पूर्वं चैत्रवंशसमुद्भवः ।
सुरथो नाम राजाऽभूत्समस्ते क्षितिमण्डले ॥ ३ ॥

महामाया के अनुभाव को बताने की इच्छा से ऋषि मार्कण्डेय होने वाले आठवें मनु सावर्णि के पूर्वजन्म के वृतान्त को बताने की इच्छा से कहते है कि पूर्वकाल में द्वितीय मनु स्वारोचिष के काल में सम्पूर्ण क्षिति मण्डल में चैत्रवंश में उत्पन्न सुरथ नामक एक राजा हुआ था। पूर्वं स्वारोचिषे अन्तरे समस्ते क्षितिमण्डले चैत्रवंशसमुद्भवः सुरथो नाम राजा अभूत् ।

यह कहानी वैवस्वत तथा सावर्णि के पहले की है। जिन दिनों द्वितीय मनु स्वारोचिष का समय बीत रहा था, चैत्रवंश में एक राजा हुये थे जिनका नाम सुरथ था तथा वह सम्पूर्ण पृथ्वी के राजा थे। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। जगत् का कारोवार एक प्रकार से वरावर चलता रहता है। जब वर्तमान श्राद्धदेव वैवस्वत का जन्म नहीं हुआ था, न तो उनके भाई यम तथा वैमातृक भाई सावर्णि तथा शनैश्चर का ही जन्म हुआ था तब भी सृष्टि की व्यवस्था चल रही थी। उस समय स्वरोचिष् के पुत्र स्वारोचिष नामक मनु थे जिनका नाम द्युतिमान् था तथा जिन्हें ब्रह्मा ने मनु बनाया था।[2] उन दिनों पारावत तथा तुषित नाम के देवगण थे। इन्द्र पद पर विपश्चित् विराजमान थे।[3] ऊर्ज्ज, स्तम्ब, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ निश्चर तथा अर्ववीर (अरीवान्) नामक सप्तर्षि थे[4]। चैत्र, किम्पुरुष, कृतान्त, विभूत, रवि, बृहदुक्थ, नव, सेतु तथा श्रुत नामक नव पुत्र स्वारोचिष् के थे जो पृथ्वी के शासक थे[5]। इस मनु के

---

१ शान्तनवी
२ मार्कण्डेय पुराण ६७/१
३ „ ६७/३
४ „ ६७/४
विष्णु ३ . १—११
ब्रह्माण्ड पु० २ . ३६ . १७—१८
५ ब्रह्माण्डपु० २ . ३६ . १९

प्रथम पुत्र चैत्र के वंशजों में सुरथ नामक राजा हुये थे। इस श्लोक से ज्ञात होता है कि वे सम्पूर्ण पृथ्वी के शासक थे। पृथ्वी पर अन्य भूपाल थे पर वे करद थे। सुरथ चक्रवर्ती सम्राट् थे जिनका अपना भी राज्य था तथा अशेष राजा उसके वशंवद थे इनकी विशेषताओं का वर्णन देवीभागवत में मिलता हैं। जिससे पता चलता है कि देवी की कृपा के अधिकारी थे। द्रष्टव्य– देवीभागवत ५वां स्कंध ३२ अध्याय।

विशेष—इस श्लोक से श्रीं बीजमन्त्र निकलता है। पद्धति–क्षः इतिः समाप्तिः यस्याः। साक्षितिः वर्णमाला, समस्ते क्षितिमण्डले–सम्पूर्णवर्णसमुदाये, किंभूते–स्वारोचिषे–स्वस्य इव आत्मनःब्रह्मणः इव रोचिः प्रभा यस्य सः स्वरोचिः मन्त्रः वर्णरुपः, स्वरोचिष इदं स्वारोचिषं तस्मिन् स्वारोचिषे स्वयं प्रकाशमाने वर्णसमुदाये अन्तरे मध्ये, व्यत्ययेन षष्ठी, अर्थात् प्रकाशमानानां मन्त्राणां मध्ये, चैत्रवंशसमुद्भवः—ऊष्मर्तोः चैत्रमासादारम्भात् चैत्राः ऊष्मवर्णाः एव समुद्भवः उत्पत्तिस्थानं यस्य यः पूर्वं प्रथमः शवर्णः सुरथः—रीं राजा प्रकाशमानः श्रीं रूपः अभूत्–बभूव यथा ह्रीं लक्ष्मीबीजम् तथा श्रीं लक्ष्मी-बीजम्।

तस्य पालयतः सम्यक् प्रजाः पुत्रानिवौरसान्।
बभूवुः शत्रवो भूपाः कोलाविध्वंसिनस्तदा ॥ ४ ॥

उस समय नीतिशास्त्र के अनुसार औरस पुत्रों की भांति प्रजाओं का पालन करते हुए उस। सुरथ के राज्यान्तर्गत कुछ भूप कोलाविध्वंसी शत्रु बन गये। सुरथ चक्रवर्ती सम्राट् थे। उनके राज्य में अनेक करद राजा भी राज्य करते थे। यद्यपि सुरथ सभी प्रजा का पालन अपने औरस पुत्र के समान कर रहे थे, फिर भी किसी अज्ञात कारणवश उनके साम्राज्य में रहने वाले कुछ राजा शत्रु बन बैठे। कोलाविध्वंसिनः इस श्लोक में कोलाविध्वंसिनः पद आया है, जिसका अर्थ होता है कोला को विध्वस्त करने वाले अर्थात् राजा लोग शत्रु मात्र ही नहीं बने अपितु कोला विनाश करने वाले भी हो गये। कोला शब्द का अर्थ टीकाकारों ने अनेक प्रकार से किया हैं, जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं (१) सुरथ की दूसरी राजधानी का नाम कोला था, जिसे भूपों ने नष्ट किया (२) अमरकोश के अनुसार कोला शस्त्र विशेष को कहते हैं। कोला नामक अस्त्र से नाश करने वाले हो गये (३) क, अ, उ क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के वाचक शब्द हैं। इनकी सन्धि करने पर 'को' शब्द बनता है। इस 'को' की जो पूजा करते हैं वे 'कोला' कहलाते हैं। कोला लोगों का विध्वंस

करने वाले कोलाविध्वंसीं अर्थात् राक्षस कहलाते हैं-कः ब्रह्मा अः विष्णुः उः महेशः तान् लान्ति पूजयन्ति ये ते कोलाः। तान् विध्वंसयन्तीति कोलाविध्वंसिनः। (४) उपसर्ग से धातु के अर्थ के बदलने के कारण विध्वंसी का अर्थ निवासी मानने पर कोला नामक नगर में रहने वाले कोलाविध्वंसी कहलाते हैं। (५) कोल का अर्थ शूकर होता है, उनको मारने वाले कोलाविध् क्षत्रिय कहलाते हैं। कोलाविध् को नष्ट करने वाले कोलाविध्वंसी यवन कहे जायेंगे।

मेरी सम्मति में कोला शब्द घर के पास की अन्तिम भूमि कहलाती है। इसी प्रकार राज्य का पर्यन्त भाग भी कोला कहलाता है। राज्य में सुदूरवर्ती राजा ही वहाँ विरोधी बनते हैं और वहां ही तोड़फोड़ की कार्यवाही प्रथमतः प्रारम्भ होती है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह देखें तो इसी कोला का अपभ्रंश कोलाई शब्द आज भी भोजपुरी में प्रचलित है। शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त तथा प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न भिन्न होता है। कजाक और उजबक शब्द विशेषण के रूप में आज भी प्रचलित है जिसका अर्थ निश्चय ही कजाकिस्तान तथा उजबेकिस्तान से पूर्वकाल में भारतवर्ष आये हुए व्यक्तियों के चरित्र का समन्वित रूप है। अर्थात् सुरथ के साम्राज्य के छोर पर बसने वाले राजा लोग उस पर्यन्त भाग से सुरथ को साम्राज्य सत्ता को हटाने में दत्तचित्त हो गये।

विशेषः—यहां सन्देह होता है कि जब सुरथ प्रजा का पालन अपने पुत्र की भाँति कर रहे थे तो शत्रु क्यों उत्पन्न हो गये? इसका उत्तर है कि व्यक्ति का वास्तविक शत्रु उसका औरस पुत्र ही होता है। पिता की सम्पत्ति पर शीघ्र अपने अधिकार की कामना औरस पुत्र ही कर सकते हैं। दूसरी बात यह भी है कि सांसारिक माया जाल में बांधने का यह सर्वोत्कृष्ट पाश भी होता है। ये दोनों बातें माया के कारण ही होती हैं। महामाया की कृपा यदि हो तो यह पाश बाधक न होकर साधक हो जाता है। इसलिए ही ऋषि ने सुरथ को महामाया के विषय में बोध कराना उचित समझा।

तस्य तैरभवद्युद्धमतिप्रबलदण्डिनः
न्यूनैरपि स तैर्युद्धे कोलाविध्वंसिभिर्जितः॥ ५॥

उसअतिप्रबलदण्डी (सुरथ) का उन (शत्रुओं) से युद्ध हुआ। युद्ध में कम संख्या वाले उन कोलाविध्वंसियों से वह (सुरथ) जीत लिये गये।

अतिप्रबलदण्डिनः-अत्यन्त उत्कृष्ट दण्ड वाले को अतिप्रबल दण्डी कहते हैं। दण्ड शब्द के २४अर्थों में यहाँ दो अर्थ सङ्गत है। १. सैन्य समूह २. सामदान दण्ड भेद रूप शत्रु वशीकरण साधनों में तृतीय। सुरथ के पास अत्यन्त प्रवल सैन्य समूह था अथवा अत्यन्त प्रवल शत्रुओं को दण्ड देने में वे समर्थ थे। परन्तु युद्ध में वे न्यून अर्थात् अल्प सैन्य समूह वालों से भी जीत लिये गये। दण्ड शब्द के उपरिलिखित २ अर्थों में प्रथम से यह व्यक्त होता है कि सैन्य समूह रहने पर भी जय का न होना दैवाधीन होता है तथा दूसरे अर्थ से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामादि ४ उपायों में केवल दण्ड पर ही विशेषतः निर्भर करने वाला दण्ड को पराजय का निमित्त बना देता है।

अतिप्रबलदण्डिनः में समस्त कर्म धारय अतिप्रबल दण्ड शब्द से इनि प्रत्यय नहीं होना चाहिए था पर इसकी शुद्धि छान्दस मानकर करनी चाहिये अथवा कालिदास के 'किसलयच्छेदपाथेयवन्तः' के अनुसार करनी चाहिये अथवा अतिप्रवलान् दण्डयितुं शीलम् अस्य ऐसा विग्रह करके ताच्छील्य अर्थ में णिनि प्रत्यय करना चाहिये।

जितः—यहाँ सकर्मक जिजये धातु का प्रयोग नहीं है। अन्यथा दूसरा अर्थ होता है कि शत्रुओं के द्वारा सुरथ विजयी हुये। पर यहाँ जि अभिभवे का प्रयोग हुआ है अर्थात् सुरथ शत्रुओं से अभिभूत हो गये।

ततः स्वपुरमायातो निजदेशाधिपोऽभवत्
आक्रान्तः स महाभागस्तैस्तदा प्रबलारिभि. ।। ६ ।।

इस पद्य मे च का अध्याहार करना पड़ता है।

उस समय उन प्रवल शत्रुओं से आक्रान्त अभिभूत—वह महाभाग सुरथ ततः अर्थात् पराजय पाने के बाद अपने पुर में आये और अपने ही देश के अधिप राजा रह गये। अर्थात् उनकी सार्वभौमता छिन गई।

महाभागः—यहाँ संदेह होता है कि जब सुरथ अपने शत्रुओं से इस प्रकार अपमानित हो रहे थे तब उन्हें ऋषि ने महाभाग क्यों कहा ? इसका उत्तर है कि ऋषि सम्पूर्ण घटना जानने के बाद इसे अब बता रहे हैं। वे जानते हैं कि भविष्य में किस प्रकार से सुरथ अत्यन्त सम्मानित हुये। दूसरी बात यह भी है कि आसन्न भूत में जो चक्रवर्ती सम्राट् था वह भी आक्रान्त हो रहा है, इस अवस्था को सूचित करने के लिए महाभाग पद का प्रयोग किया गया है।

अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैर्दुर्बलस्य दुरात्मभिः
कोशो बलं चापहृतं तत्रापि स्वपुरे ततः [१]॥ ७ ॥

यहाँ अपने नगर में भी दुर्बल उन (सुरथ) के कोश तथा बल अर्थात् सेना को दुष्ट, दुरात्मा तथा शक्तिशाली मन्त्रियों ने अपना बना लिया।

ततः—तत् शब्द से सार्वविभक्तिक तस् प्रत्यय होने के कारण ततः का अर्थ तस्य अर्थात् उसका होता है।

अपहृतम्—इस नपुंसक कृदन्त शब्द को लिङ्ग व्यत्यय के द्वारा कोश से अन्वित करने पर कोशः अपहृतः अर्थ होता है। यदि यह शङ्का की जाय कि कोशो बलं चापहृतः पाठ किया जाय और लिङ्ग व्यत्यय के द्वारा बलम् अपहृतम् अर्थ किया जाय तो क्या हानि है, तो कहना होगा कि अपहृतः तथा अपहृतम् पाठ में नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्तरस्याम् के नियमानुसार अपहृतम् पाठ रखा गया है।

विशेष—यह ध्यान देने की बात है कि साम्राज्य के अन्य राजाओं के स्वतन्त्र अर्थात् अकरद हो जाने पर सुरथ जब केवल अपने से साक्षात् शासित प्रदेश के राजा रह गये तो उनके मन्त्रियों में जो जहाँ पाया वह वहाँ का अधिकारी बनने लगा। इस प्रकार सुरथ की पकड़ ढीली हो गई। साक्षात् उनका सम्बन्ध न तो कोश से रह गया न सेना से। वे नाम मात्र के राजा रह गये। अमात्य शक्तिशाली हो गये। शत्रु से प्राप्त अभिभव रूप नई दुर्बलता ने सुरथ के अमात्यों को दुष्ट तथा दुरात्मा बना दिया। दुष्टतावश वे राजविषय में द्वेष करने लगे तथा राज्य लोभ से आक्रान्त होने के कारण अपनी दुराशयता को प्रदर्शित करने लगे।

ततो मृगयाव्याजेन हृतस्वाम्यः स भूपतिः।
एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम् ॥ ८ ॥

अमात्यों के द्वारा कोश तथा बल का अपहरण कर लिए जाने पर वास्तविक स्वामित्व विरहित वह भूपति (सुरथ) मृगया शिकार खेलने के बहाने से घोड़े पर चढ़ कर अकेले दुर्गम बन को चले गये।

इसका तात्पर्य यह है कि सुरथ को मन्त्रियों ने वस्तुतः पदच्युत अभी नहीं किया था पर राज्य का नियन्त्रण अब सुरथ के हाथ में नहीं था। वस्तुतः उनके

---

(१) सत इतिपाठान्तरम्।

स्वामित्व का अपहरण हुआ था। नाम मात्र के स्वामी अभी थे इसलिए भूपति पद लिखा गया है। वे प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति मात्र रह गये थे । निकट भविष्य में पदच्युत होने की आशङ्का थी। ऐसी स्थिति में स्वयं राज्य से हटना उन्हों ने श्रेयस्कर समझा तथा कोई जान भी न पाये कि वह कहां गये, इसलिए अकेले ही चले गये। ऐसा करने में उनका उद्देश्य आत्मगत निरीक्षण था न कि मृगया। मृगया तो केवल व्याजमात्र था। यह भी सम्भव था कि यदि वे मृगया के बहाने से राजधानी न छोड़ते तो कदाचित् अनन्त काल के लिए कारावास भी भोगते जो स्थिति उनके लिए असह्य होती और फिर आपत्ति से निस्तरण का उपाय भी न निकलता।

एकाकी– टीकाकारों ने एकाकी का अर्थ असहाय किया है, जो ठीक है पर ऐसा अर्थ करने में उनके उस दृढ़ निश्चय का पता नहीं लगता है, जिसके द्वारा उन्हें अभी राज्य प्राप्त करने का उत्साह व्यक्त हो सके। दंशोद्धार कर्ता ने एकाकी का अर्थ दुःखी भी माना है उनके अनुसार न कं (सुखम्) अकं दुःखम्, एकं च तत् अकं च एकाकम् तत् अस्यास्तीति एकाकी दुःखी।

स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्यस्य मेधसः।[1]
प्रशान्तश्वापदाकीर्णं मुनिशिष्योपशोभितम् ॥ ९ ॥

उस—सुरथ–ने उस बन में द्विजवर्य–ब्राह्मण–मेधा का आश्रम देखा। (जो) अत्यन्त शान्त श्वापदों से व्याप्त था तथा मुनियों एव (मेधा के) शिष्यों से शोभित था।

द्विजवर्य–मातृर्मौञ्जीभ्यां जायते द्विजः के अनुसार उपनयन के अधिकार से ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं। इन द्विजों में भी वर्य अर्थात् श्रेष्ठ अग्रजन्मा ब्राह्मण कहलाता है।

मेधस्–मेधस् उस आश्रम के अधिष्ठाता का नाम है। इसका प्रथमान्त रूप मेधा होता है। सुमेधा ऐसा भी इनका नाम मिलता है। ऋषि वशिष्ठ का ही दूसरा नाम मेधा भी था यह लक्ष्मीतन्त्र से ज्ञात होता है, जिसमें मेधा नाम न देकर वशिष्ठ ही लिखा है :—

---

(१) स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्यः सुमेधसः' ऐसा भी पाठ मिलता है। इस अवस्था में सम्बोधनान्त द्विज पद क्रौष्टुकि के लिए रहेगा वर्यः पद सुरथ-वाचक सः के साथ अन्वित होगा। मेधा का नाम सुमेधा होगा।

कथितानि पुरा शक्र वशिष्ठेन महात्मना ।
स्वारोचिषन्तरे राज्ञे सुरथाय महात्मने ।
समाधये च वैश्याय प्रणताय च सीदते । (ल० त०)

प्रशान्तश्वापदाकीर्णम् –शुन इव पदानि येषां ते श्वापदाः अर्थात् कुत्ते की भांति जिनके पैर हों वे श्वापद कहलाते हैं । पशुओं के इस विभाग में भेड़िया, चीता, सिंह आदि आते हैं । इन हिंसक पशुओं की भी उस आश्रम के वातावरण के कारण शान्त अवस्था थी । अर्थात् वह आश्रम प्रशान्त श्वापदों से व्याप्त था । यहां शङ्का हो सकती है कि कोई इस प्रकार के केवल माँसाहारी पशु शान्त रहें तो उनके भोजन की व्यवस्था कैसे होगी । इसका उत्तर है कि आश्रम का क्षेत्र ऐसा था जहां ये पशु भी प्रशान्त परस्पर में वैररहित तथा परहिंसा विरहित हो जाते थे । आश्रमपरिसर के अतिरिक्त वनप्रदेश तो उनके लिए खुला था ।

मुनिशिष्योपशोभितम्—'वह आश्रम मुनियों से तथा ऋषि के शिष्यों से सुशोभित था । इस अर्थ के अतिरिक्त भी अर्थ किया जाता है-मननशील शिष्यों से उपशोभित ।

तस्थौ कञ्चित्स कालं च मुनिना तेन सत्कृतः
इतश्चेतश्च विचरंस्तस्मिन्मुनिवराश्रमे ॥ १० ॥

हे मुनिवर क्रौष्टुकि ! उस आश्रम में इधर उधर घूमते हुए तथा उन (मेधा) मुनि के द्वारा सत्कृत सुरथ कुछ समय ठहर गये ।

शत्रुओं से अभिभूत पूर्व सम्राट् सुरथ के आश्रम में आनेकी प्रक्रिया ही इस श्लोक का निर्णायक अर्थ करती है । वे उस आश्रम में रुके, सत्कृत हुए और फिर घूमने लगे अथवा मुनि के द्वारा सत्कृत होकर इधर उधर घूमते हुए ठहरे ! वस्तुतः सुरथ की प्रभुता राज्यतन्त्र पर नहीं रह गई थी पर राज्य में रहने वाला ब्राह्मण वास्तव में किसी राजा का अनुगामी नहीं होता है, इसे सुरथ जानते थे । यदि उस काल का द्विजवर्य मेधा सुरथ का अब भी सम्मान करता है तो सुरथ को यह विश्वास होना स्वाभाविक था कि उनकी योग्यता समाप्त नहीं हुई है, राज्य का निकल जाना विधि का विधान है । इसीलिए अभी पहले के चाटुकारों तथा सम्प्रति धोखा देने वाले परिजनों के चंगुल से निकल कर आज वे वस्तुतः उस स्थान पर आये थे, जहां आना उन्होंने नहीं सोचा था । नितान्त नूतन इस स्थान पर आकर इधर उधर घूमना स्वाभाविक ही

था । अनन्तर मेधा को जब शिष्यों से यह ज्ञात हुआ कि कोई भद्र पुरुष यहां आया है तो उन्होंने सत्कार किया तथा इस सत्कार से उत्साहित सुरथ वहां कुछ दिन ठहर गये ।

इतश्चेतः–अनिश्चित स्थान तथा अनिश्चित दिशा अर्थ में इस शब्द राशि का प्रयोग होता है । अज्ञात स्थान में इधर से उधर इसका अर्थ होता है । कुछ टीकाकारों ने इसका व्युत्पत्ति मूलक अर्थ भी किया है । तेन मुनिना इतः प्राप्तः च सत्कृतः चेतः स्वान्तं विचरन् इदं स्थानं योग्यम् अस्ति न वा इति चिन्तयन् तस्थौ अर्थात् मुनि से अभिगत तथा सत्कृत होकर यह स्थान मेरे योग्य है अथवा नहीं यह विचार करते हुए ठहर गये ।

मुनिवराश्रमे–इसमें मुनिवर तथा आश्रम दो पद हैं । यदि इसमें तत्पुरुष समास माना जाय तो अर्थ होता है, उस मुनिवर के आश्रम में । पर यदि मुनिवर को मार्कण्डेय के द्वारा क्रौष्टुकि के लिए प्रयुक्त सम्बोधन पद मान लें तो अर्थ होता है कि हे मुनिवर उस आश्रम में । इस अर्थ की उपयुक्तता इसलिए है कि क्रौष्टुकि को सम्बद्ध करके मार्कण्डेय इस घटना की महत्ता समझने पर बल दे रहे हैं । दूसरी बात सत्कार करने वाले को केवल मुनिना कहना तथा आश्रम के साथ मुनिवर पद जोड़ना कोई चमत्कार नहीं पैदा कर रहा है । सम्राट् का आश्रम में रुकना–जापर विपदा पड़त है सो आवत यहि देश, की स्मृति दिलाना है ।

सोऽचिन्तयत्तदा तत्र ममत्वाकृष्टचेतनः
मत्पूर्वैः पालितं पूर्वं मया हीनं पुरं हि तत्[1] ।। ११ ।।
मद्भृत्यैस्तैरसद्वृत्तैर्धर्मतः पाल्यते न वा
न जाने स प्रधानो मे शूरहस्ती सदामदः[2] ।। १२ ।।
मम वैरिवशं यातः कान्भोगानुपलस्यते
ये ममानुगता नित्यं प्रसादधनभोजनैः ।। १३ ।।
अनुवृत्तिं ध्रुवं तेऽद्य कुर्वन्त्यन्यमहीभृताम्
असम्यग्व्ययशीलैस्तैः कुर्वद्भिः सततं व्ययम् ।। १४ ।।
संचितः सोऽतिदुःखेन क्षयं कोशो गमिष्यति
एतच्चान्यच्चसततं चिन्तयामास पार्थिवः ।। १५ ।।

---

१ 'ममत्वाकृष्टमानसः' पाठ भी मिलता है ।
२ सप्रधानो मे शूरो हस्ती सदामदः (पाठान्तर)

आश्रम में रहते समय ममत्व अर्थात् मेरापन से आकृष्टबुद्धि उस (सुरथ) ने सोचा—"पूर्वकाल में मेरे पूर्वजों से (धर्मतः) पालित (तथा सम्प्रति) मुझसे रहित वह पुर स्पष्टतः उन असद्वृत्त—कुत्सित आचरण वाले—मेरे भृत्यों के द्वारा धर्म पूर्वक पालित हो रहा है या नहीं ? नहीं जानता हूँ कि मेरा वह प्रधान सदामद शूरहस्ती मेरे वैरियों के वश में पड़ा हुआ किन भोगों को पाता होगा। प्रसाद धन और भोजनों से जो लोग मेरे नित्य अनुगत थे वे आज निश्चित रूप से अन्य राजाओं का अनुवर्तन कर रहे हैं। असंतुलित व्यय करने वाले एवं सदा व्यय करने वाले उन लोगों के द्वारा अत्यन्त दुःख से इकट्ठा किया गया (मेरा) कोश क्षय को प्राप्त हो जायगा" ऐसा तथा और भी पार्थिव ने निरन्तर सोचा।

ममत्वाकृष्टचेतनः—अस्मद् शब्द का एकवचन षष्ठ्यन्त रूप मम होता है। इस मम से त्व प्रत्यय करने के लिए मम को विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय मानना होगा। मम के भाव को ममता या ममत्व कहते है। चेतना का अर्थ बुद्धि होता है। बुद्धि का कार्य सदसद्विवेक है। ममत्वेन आकृष्टा वशीकृता चेतना यस्य सः ममत्वाकृष्ट चेतनः। ममत्वाकृष्टमानसः पाठ मानने पर अर्थ होगा ममत्व से आकृष्ट हो गया था चित्त-मन-जिसका। ममत्वाकृष्टचेतन होने के कारण ही सुरथ की बुद्धि पर ममत्व का अधिकार हो गया था तथा वह सदसद्विवेक में असमर्थ हो गई थी।

हि—हि स्फुटार्थ हेत्वोः के अनुसार यहाँ हि' शब्द स्फुट अर्थ का द्योतक है। पादपूर्ति के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

प्रधानः—प्रधान का अर्थ अनेकों में मुख्य होता है। राजा का गज जो सदामद तथा शूर था वह सभी गजों में मुख्य था। प्रधान का अर्थ अध्यक्ष भी होता है। प्रधानेन सहितः सप्रधानः अर्थात् महामात्र युक्तः गजः अर्थात् महावतयुक्त मेरा वह शूरगज' ऐसा अर्थ होता है पर तब 'सप्रधान' एव शब्द रहेगा।

शूरहस्ती—शूरहस्ती शब्द का 'शूरश्चासौ हस्ती च विग्रह के अनुसार कर्मधारय समास होकर 'बहादुर हाथी अर्थ होता है। कुछ टीकाकारों ने 'शूरो' पाठ मानकर 'शूर नाम का हाथी' अर्थ किया है। पर उन्हें नाम के ज्ञान के विषय में प्रमाण इकट्ठा करना होगा।

सदामदः—सदा मदो अस्य सः सदामदः अर्थात् जिसके गण्डस्थल से सदामद बहता है। 'स + दामदः' ऐसा पदच्छेद करने पर 'वह दामद' अर्थात्

दाम-बन्धन को तोड़ने वाला अर्थ भी किया जाता है – दाम बन्धनं द्यति खण्डयति इति दामदः । पर इस पक्ष में स का अर्थ वह होने के कारण स–प्रधानः में स को प्रधान से मिलाना ही होगा। फलतः 'महावत युक्त मेरा वह बन्धन तोड़ने वाला शूर हाथी' ऐसा अर्थ करना होगा।

कान् भोगान्—कान् के तीन अर्थ होते हैं। १. क्या २. कितना ३. कैसा अर्थात् मेरा हाथी कितनी मात्रा में कैसी और क्या वस्तु पाता होगा।

प्रसादधनभोजनैः—किसी का अनुवर्तन करने वाले उससे तीन वस्तु अवश्य चाहते है।

१. प्रसाद—विशेष अवसरों पर उपहार २. धन—वेतन ३. भोजन—प्रतिदिन का प्राप्तव्य। इन तीन कारणों से अनुवर्तन करने वाले असमय में साथ अवश्य छोड़ते हैं। भूलना नहीं चाहिये कि अनुवर्तन करने वाले किसी न किसी का अनुवर्तन अवश्य करेंगे। योग्यता के आधार पर अनुवर्तन करने वाले साथ नहीं छोड़ते।

अन्यमहीभृताम्—सुरथ के चले आने के वाद सुरथ का राज्य निश्चित रूप से अनेक मन्त्रियों ने बांटा होगा, इसलिए ही अन्यमहीभृताम्–अनेक राजाओं की–शब्द का प्रयोग किया गया है।

एतच्चान्यच्च—एतत् पद से १. पुर का धर्मतः पालन २. शूरहस्ती की देखरेख ३. अनुगतों की परानुरक्ति तथा ४. कोश की समाप्ति को सुरथ ने सोचा। इसके अतिरिक्त अन्यत्-अन्य भी कुछ–सोचा। वह क्या सोचा ? यह यहाँ नहीं बताया गया है पर इसी प्रकार उन्होंने राज्य के सात अङ्गों के विषय में क्रमशः सोचा होगा। उनके सोचने का अन्तिम रूप वह था जिसे उन्होंने ऋषि मेधा से बताया कि गतराज्य मैं मूर्ख की तरह क्यों राज्याङ्ग के विषय में सोचा करता हूँ—

ममत्वं गतराज्यस्य राज्याङ्गेष्वखिलेष्वपि
जानतोऽपि यथाज्ञस्य किमेतन्मुनिसत्तम।

इस प्रक्रिया में अवश्य ही उन्होंने विपत्ति से छुटकारा की विधि को भी सोचा होगा पर कदाचित् अन्तिम निर्णय नहीं कर पाये होंगे।

पार्थिव—'पृथिव्याः ईश्वरः इस विग्रह के अनुसार पृथिवी के स्वामी को पार्थिव कहते है पर सुरथ तो अब पार्थिव नहीं रह गये थे फिर उन्हें पार्थिव

क्यों कहा गया' इस शङ्का का समाधान है कि 'तत्र विदितः' इस सूत्र से पूर्वकाल में पृथिवी के ईश्वर रूप में विदित को भी पार्थिव कहते हैं।

तत्र विप्राश्रमाभ्याशे वैश्यमेकं ददर्श सः
स पृष्टस्तेन कस्त्वं भो हेतुश्चागमनेऽत्र कः ॥ १६ ॥
सशोक इव कस्मात्त्वं दुर्मना इव लक्ष्यसे ॥ १६क ॥

(मार्कण्डेय ने कहा) हे विप्र (क्रौष्टुकि)! उस आश्रम के निकट उस (सुरथ) ने एक वैश्य को देखा। उन (सुरथ) के द्वारा वह पूछा गया—अरे तुम कौन हो और यहाँ आने में (तुम्हारा) क्या हेतु है? किस कारण से तुम शोकयुक्त जैसा और दुर्मन जैसा दिखाई दे रहे हो?

विप्राश्रमाभ्याशे– विप्र सम्बोधनान्त पद है। आश्रमाभ्याशे का अर्थ आश्रम के निकट में' है। इसका दूसरा अर्थ 'विप्र अर्थात् ब्राह्मण मेधा के आश्रम के निकट में' भी हो सकता है पर १०वें श्लोक के अनुसार ही इसका भी अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है। आश्रम तो ब्राह्मणों के ही होते थे फिर विप्र विशेषण लगाने का कोई औचित्य नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि भागुरि को जो शङ्का थी उसके उत्तर में उनके लिए विप्र सम्बोधन समुचित भी है।

सशोकः—अभीप्सित पदार्थों से वियोग होने पर भी उसका चिन्तन शोक कहलाता है। शोक होने पर शरीर टूटा टूटा दिखाई देता है।

दुर्मनाः—दुःख के कारण चित्त में अवसाद का होना दौर्मनस्य कहलाता है। दौर्मनस्य युक्त को दुर्मन कहा जाता है इसके कारण व्यक्ति अस्थिर जैसा रहता है।

विशेष- आश्रम में अपने आने का हेतु सुरथ को ज्ञात था। मानव के रूप में उस आश्रम में मुनिवृन्द तथा ऋषि शिष्य ही रहते थे अन्यथा वह हिंसकों से भरा था। यह दूसरी बात है कि मुनि के प्रभाव से वे हिंसक प्रशांत हो गये थे। एक नये व्यक्ति को वहाँ देखकर सुरथ का आश्चर्य चकित होना स्वाभाविक था। क्योंकि जीवन में वही प्राणी आश्रम की ओर उन्मुख भी हो सकता था जो जीवन की व्यर्थता को पहले से समझता हो अथवा परिस्थितियों ने उसे वैसे समझने के लिए विवश कर दिया हो। आगन्तुक का स्वरूप मुनियों से भिन्न था अतः सुरथ को हेतु जानने की जिज्ञासा ने मुखर बना दिया परन्तु अब भी सुरथ का मानवों को अभिभूत करने वाला भाव निकला नहीं था।

इसीलिए बिना कोई उचित विशेषण दिये हुये ही उन्होंने पूछा – कस्त्वं – तुम कौन हो ? यहाँ पर ध्यातव्य है कि अपनी ही जैसी मानसिक अवस्था उस व्यक्ति की भी सुरथ ने देखी । सुरथ स्वयं सशोक तथा दुर्मन थे ।

इत्याकर्ण्य वचस्तस्य भूपतेः प्रणयोदितम् ।। १७ ।।
प्रत्युवाच स तं वैश्यः प्रश्रयावनतो नृपम् ।।
वैश्य उवाच
समाधिर्नाम वैश्योऽहमुत्पन्नो धनिनां कुले ।। १८ ।।

भूपति (सुरथ) का प्रेम से कहा गया ऐसा (उपरिलिखित) बचन सुनकर वह विनय से अवनत वैश्य उन राजा से बोला ।

वैश्य ने कहा– धनियों के कुल में उत्पन्न मैं समाधि नाम वाला वैश्य हूँ ।

यहाँ यह संदेह होता है कि सुरथ ने तो 'तुम कौन' जैसे शब्दों से प्रश्न पूछा था । इस वाक्य में प्रणय–प्रेम–का कौन सा पुट दिखाई दे रहा है कि उसे प्रणय से कहा माना जाय ? साथ ही इसमें वैश्य ने क्या देखा कि वह विनय से अवनत हो गया ? इसका उत्तर है कि सुरथ यद्यपि राज्य से च्युत थे और सम्भवतः समाधि उन्हें स्वरूपतः जानता भी नहीं था तथापि सुरथ का अनुभाव नष्ट नहीं था । निश्चित रूप से प्रकृत्या समाधि को अभिभूत करने वाले व्यक्तित्व ने जब उसके शोकयुक्त तथा दुर्मना होने की चर्चा चलाई तो व्यक्तित्व की पहचान करने वाले समाधि जैसे धनी व्यक्ति का विनम्रता से अवनत होना स्वाभाविक ही था । दैव के विपरीत होने पर अपना दुःख सुनने वाला भी नहीं मिलता है । शीतल बचन मात्र से दुःख की शान्ति करने वाला तो विरल ही होता है । पण्डितराज जगन्नाथ का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है–

दैवे पराग्वदनशालिनि हन्त जाते
याते च सम्प्रति दिवं प्रति बन्धुरत्ने ।
कस्मै मनः कथयितासि निजामवस्थां
कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम् ।।

यहाँ तो समाधि की आधि पर शीतल वचन का लेप करने वाला मिल गया था । इसीलिए समाधि अपनी अवस्था बताने के लिए सद्यः उद्यत हो गया । प्रश्रय तो उसका स्वाभाविक गुण भी था ।

पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः
विहीनः स्वजनैर्दारैः पुत्रैरादाय मे धनम् ।। १९ ।।

(पहले तो मैं) धन के लोभ से असाधु हुये पुत्रों, अपनी स्त्रियों तथा अपनी पुत्रवधुओं एवं स्वजनों के द्वारा निरस्त अर्थात् भर्त्सित हुआ। (फिर तो) स्वजनों, स्त्रियों तथा पुत्रों के द्वारा मेरा धन लेकर मुझे छोड़ दिया गया।

पुत्रदारैः--पुत्रैश्च दारैश्च इति पुत्रदारैः। पुत्राणां दारैः पुत्रवधूभिः। इस प्रकार पुत्रदारैः शब्द से पुत्र, स्त्री तथा पुत्रवधू रूप तीन अर्थ निकलता है। प्रथम चरण में 'च' का अर्थ स्वजन होता है।

वनमभ्यागतो दुःखी निरस्तश्चाप्तबन्धुभिः
सोऽहं न वेद्मि पुत्राणां कुशलाकुशलात्मिकाम् ॥ २० ॥
प्रवृत्तिं स्वजनानां च दाराणां चात्र संस्थितः
किं नु तेषां गृहे क्षेममक्षेमं किं नु साम्प्रतम् ॥ २१ ॥
कथं ते किं नु सद्वृत्ता दुर्वृत्ताः किं नु मे सुताः ॥ २१ क ॥

(अपने धन की रक्षा न कर पाने के कारण अपने) सुहृद् बन्धुओं से भी गर्हित, दुखी तथा वन में आया हुआ वही मैं अपने पुत्रों, स्वजनों तथ स्त्रियों के कुशल और अकुशल रूप वृतान्त को यहाँ रहता हुआ नहीं जान पा रहा हूँ। पता नहीं, इस समय उनके घर में कल्याण है या अकल्याण। क्या वे मेरे बच्चे उचित व्यवहार वाले हैं या अनुचित व्यवहार वाले हैं।

समाधि से राजा सुरथ ने ४ प्रश्न पूछा था। १. तुम कौन हो २. यहाँ आश्रम में तुम्हारे आने का प्रयोजन क्या है ३. तुम किस लिए शोकग्रस्त जैसे दिखाई दे रहे हो तथा ४. किसलिए दुर्मना जैसे प्रतीत हो रहे हो। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में समाधि ने बताया है कि - मैं जात्या वैश्य हूँ तथा धनियों के कुल में उत्पन्न हूँ। मेरा नाम समाधि है। इस प्रकार प्रथम प्रश्न का उत्तर देकर उसने तृतीय तथा चतुर्थ प्रश्न का उत्तर दिया – मेरे निकटतम सम्बन्धियों ने मेरा धन ले लिया, यही शोक का कारण है उनके द्वारा अधिक्षिप्त होकर बन में आने पर मैं उनके कल्याण का समाचार जानने के लिए व्यग्र हूँ, इसी से दुर्मना भी हूँ'। यहाँ समाधि ने वन में आने की बात तो कहा पर क्यों आये हो इसका उत्तर नहीं दिया है। 'अधिक्षिप्त होकर बन में आया हूँ' यह तो हेतु बनता नहीं है। हेतु शब्द का अर्थ यहाँ पर फल है। पर इन्हीं तीनों प्रश्नों के उत्तर से उसने दूसरे प्रश्न का उत्तर भी दे दिया है, जिसे केवल सुरथ ने ही समझा। अच्छा उत्तर वह होता है, जो कहा न जाय।

पर इसके श्रोता एवं वक्ता को समान स्तर का होना पड़ता है। जिस प्रकार आश्रम में समाधि अजनबी था उसी प्रकार सुरथ भी तो अजनबी थे। मृदुता के लिए विख्यात पर प्रत्युत्तर देने में अत्यातुर वैश्य समाधि ने जातिगत संस्कारों के कारण राजा से प्रतिरोध तो नहीं किया पर अपनी स्थिति समझा दिया। समाधि का भाव था कि श्रीमन् ! जिन परिस्थितियों में मैं वन में आया हूं। आप भी वन में आये हैं। अपनी परिस्थितियाँ आप जानें। पर जिस फल की आकांक्षा में आप यहाँ आये हैं, वही मेरा भी फल है।

राजोवाच

यैर्निरस्तो भवांल्लुब्धैः पुत्रदारादिभिर्धनैः ॥ २२ ॥
तेषु किं भवतः स्नेहमनुबध्नाति मानसम् ॥ २२ क ॥

राजा ने कहा – जिन लोभी पुत्र स्त्री स्वजनों के द्वारा धन के हेतु से आप अधिक्षिप्त हुये हैं उनमें ही आपका चित्त क्यों स्नेह कर रहा है ?

राजा की सदाशयता का पूरा वर्णन इस प्रसङ्ग में है। पहले तो उन्होंने अपनी भाषा सुधार ली। 'कस्त्वम्' पूछने वाला यहाँ समाधि के लिए भवान्–आप तथा भवतः–आपका शब्दों का प्रयोग कर रहा है। दूसरी बात राजा को यह खटकी कि मेरा शोक तो उचित स्थान पर है पर इसका शोक तो अनुचित स्थान पर है। मैं तो अपने पुर, हाथी, अनुगतों की अवस्था तथा कोश के विषब में शोक कर रहा हूँ, शत्रुओं से तो मेरा कोई लगाव नहीं है। शत्रु के कारण मैं दुःखी अवश्य हूँ पर मेरे अपने आश्रितों का तो कोई दोष नहीं है' जिनके विषय में मैं चिन्ता न कर सकूं। पर यह वैश्य तो अजीब है। जिनसे अधिक्षिप्त है उन्हीं की कुशल चिन्ता जानने के लिए व्यग्र है। इसलिए उन्होंने पूछा कि अधिक्षेप कारियों में आपकी शुभ प्रवृत्ति क्यों देखी जा रही है ?

वैश्य उवाच

एवमेतद् यथा प्राह भवानस्मद्गतं वचः ॥ २३ ॥
किं करोमि न बध्नाति मम निष्ठुरतां मनः
यैः संत्यज्य पितृस्नेहं धनलुब्धैर्निराकृतः ॥ २४ ॥
पतिस्वजनहार्दं च हार्दितेष्वेव मे मनः
किमेतन्नाभिजानामि जानन्नपि महामते ॥ २५ ॥

यत्प्रेमप्रवणं चित्तं विगुणेष्वपि बन्धुषु
तेषां कृते मे निःश्वासो दौर्मनस्यं च जायते ॥ २६ ॥
करोमि किं यन्न मनस्तेष्वप्रीतिषु निष्ठुरम् ॥ २६ क ॥

वैश्य ने कहा--हम जैसे लोगों के विषय में आप जैसी बात कहते हैं, यह ऐसी ही है। क्या करूँ मेरा मन निष्ठुर नहीं हो पा रहा है। पिता का स्नेह पति विषयक सहृदयता तथा स्वजनों का सम्बन्ध छोड़कर जिन धन के लोभियों (पुत्रों, स्त्रियों तथा स्वजनों) के द्वारा मैं अलग किया गया हूँ उनमें मेरा मन स्नेहयुक्त ही है। इन गुणहीन बन्धुओं में मेरा चित्त जो प्रेम से भरा हुआ है, इसे जानता हुआ भी नहीं जान पा रहा हूँ। हे महामति। यह क्या है ? इन्हीं लोगों के लिए मेरा निश्वास शोक तथा दौर्मनस्य-उद्विग्नता है। क्या करूँ ? प्रीतिविहीनों में मेरा मन जो निष्ठुर नहीं हो पा रहा है।

अस्मद्गतम्--वैश्य अकेला है। इसलिए मद्गतम् पाठ भी कुछ लोगों ने मान लिया। पर प्रश्न केवल अकेले वैश्य का नहीं है। इस प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति वालों का है। इसलिए अस्मद्गतम् पाठ ही ठीक है। दूसरी बात 'अस्मदो द्वयोश्च' के अनुसार एकत्व में भी बहुत्व युक्त है।

वैश्य ने यहाँ अपनी विवशता का स्पष्ट वर्णन किया है। यह उचित था कि पुत्री पुत्र स्वजन आदि उससे प्रेम करते, पर ऐसा हुआ नहीं। फिर भी वैश्य कैसे प्रेम न करे, यह उसकी विवशता थी। यहाँ प्रश्न होता है कि परिणाम जानने के बाद भी मन उन विषयों में क्यों अनुरक्त रहता है, जिससे अनिष्ट की आशङ्का रहती है अथवा अनिष्ट हो चुका रहता है। मन की वही गुत्थी वैश्य को सुलझानी थी। जिसका कोई उपचार अब आगे सम्भव न हो अथवा जिस तक अपनी पहुँच न हो उसकी चिन्ता मन क्यों करता है, यह गुत्थी राजा को सुलझानी थी। अतः दोनों ने इस विषय का समाधान मुनि मेघा से करना चाहा।

मार्कण्डेय उवाच

ततस्तौ सहितौ विप्र तं मुनिं समुपस्थितौ ॥ २७ ॥
समाधिर्नाम वैश्योऽसौ स च पार्थिवसत्तमः
कृत्वा तु तौ यथान्यायं यथार्हं तेन संविदम् ॥ २८ ॥
उपविष्टौ कथाः काश्चिच्चक्रतुर्वैश्यपार्थिवौ ॥ २९ ॥

मार्कण्डेय ने कहा—हे विप्र क्रौष्टुकि इस (बातचीत) के बाद वे यह समाधि नामक वैश्य तथा वह पार्थिव श्रेष्ठ दोनों मिलकर उस (मेधा) मुनि के पास पहुँचे। उस मुनि के द्वारा यथाशास्त्र तथा यथायोग्य व्यवहार करके वे दोनों बैठाये गये। वैश्य और पार्थिव दोनों ने कुछ इधर उधर की बातें कीं।

उपविष्टौ--यहाँ अन्तर्भावितण्यर्थ है। अतः उपविष्टौ का अर्थ तेन उपविष्टौ अर्थात् 'मुनि के द्वारा बैठाये गये' होता है। यदि ऐसा स्वीकार न करें तो अर्थ होगा कि तौ तेन यथान्यायं यथा संविदं कृत्वा स्वयमेव उपविष्टौ अनन्तरं कथाः चक्रतुः। वे दोनों मुनि के साथ समुचित व्यवहार करके बैठे और कथा करने लगे। पर ऐसा करने में मुनि के व्यवहार का पता नहीं चलेगा। मुनि के पक्ष में यथान्याय यथा योग्य व्यवहार की अन्विति करने से यह पता चलता है कि दीक्षा गुरू स्वयं भी समुत्सुक रहता है। केवल शिष्यों में ही तत्परता आवश्यक नहीं है। विना पूर्ण परिचय के सहसा मुख्य विषय पर आना असम्भव होता है। इसलिए इन दोनों ने भी पहले इधर उधर की ही बातें कीं।

राजोवाच

भगवंस्त्वामहं प्रष्टुमिच्छाम्येकं वदस्व तत् ॥ २९ ॥
दुःखाय यन्मे मनसः स्वचित्तायत्ततां विना
ममत्वं गतराज्यस्य राज्याङ्गेष्वखिलेष्वपि ॥ ३० ॥
जानतो ऽपि यथाज्ञस्य किमेतन्मुनिसत्तम
अयं च निकृतः पुत्रैर्दारैर्भृत्यैस्तथोज्झितः ॥ ३१ ॥
स्वजनेन च संत्यक्तस्तेषु हार्दी तथाप्यति ॥ ३२ ॥

(अनन्तर) राजा ने कहा-भगवन्! अपने चित्त की आयत्तता–निरोध–के विना जो बात मेरे मन के दुख के लिए हो रही है उस एक (बात) को आप से पूछना चाहता हूं, उसे आप यत्न पूर्वक बतायें। हे मुनिश्रेष्ठ! वस्तु को समझने वाले राज्यविहीन की अखिल राज्याङ्गों में मूर्ख की भांति ममता है यह क्या (वस्तु) है? और ये (मेरे समीप बैठे) अपने पुत्रों, भाइयों तथा भृत्यों से तिरस्कृत तथा परित्यक्त हैं। अपने जनों से संत्यक्त भी यह उनमें ही अत्यन्त स्नेहवान् हैं।

वदस्व– यत्न पूर्वक कहने के अर्थ में वद् धातु का आत्मने पद में प्रयोग किया गया है।

मनसः–मन एक इन्द्रिय का नाम है। विषयों का ग्रहण करना ही इन्द्रिय का कार्य है। इन्द्रियों को करण भी कहते हैं। इन्द्रियों का विभाजन दो प्रकार से होता है। ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र को ज्ञानेन्द्रिय एवं वाक्, पाणि, पाद पायु तथा उपस्थ को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। मन इनसे भिन्न है तथा ज्ञानेन्द्रिय कहलाता है। मन अन्तरिन्द्रिय अथवा अन्तः करण है एवम् शेष दश इन्द्रियां वहिरिन्द्रिय अथवा वाह्य करण कहलाती हैं। न्याय शास्त्र के अनुसार मन का कर्म सुख दुःख की उपलब्धि कराना है। सुख दुःख रूप ज्ञान का आश्रय आत्मा होता है। राजा सुरथ का कहना है कि जो वस्तु वह पूछना चाहते हैं उसे उनका मन दुःख के रूप में ग्रहण कर रहा है, इसका समाधान क्या है।

चित्तायत्तता:–चित्त की आयत्तता को चित्तायत्तता कहते हैं। आयत्तता का आशय निरोध से है। चित्त नामक एक पदार्थ भी अन्तःकरण के रूप में गृहीत होता है पर उसे न्याय दर्शन नहीं मानता है। चित्त की विशद चर्चा योग शास्त्र में आती है चित्त भी मन की एक विशेष दशा है। सांख्य के अनुसार मन का कार्य सङ्कल्प एवं विकल्प करना है। 'यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार यह सोचना मन का काम है अर्थात् मन संकल्पात्मक तथा विकल्पात्मक होता है। मन की चञ्चलता अत्यन्त प्रसिद्ध है। चञ्चल मन में कोई भी भी वस्तु ठीक से प्रतिविम्बित नहीं हो सकती है। इसलिए मन की ही उस विशेष अवस्था को चित्त कहते हैं, जिसमें वस्तु प्रतितिम्बित होती है तथा गृहीत भी होती है। उदाहरणार्थ यदि मन को चञ्चल जल के सदृश समझें तो ठीक होगा क्योंकि उसमें प्रतिविम्ब का ठीक से ग्रहण नहीं हो पाता है। चित्त तो प्रशान्त जल जैसा होता है, जिसमें प्रतिविम्ब का ग्रहण हो सकता है। थोड़ा सा भी चाञ्चल्य यदि अवशिष्ट हो तो मन दुःख की ही अनुभूति कराता है अथवा संकल्प विकल्प बना रहता है। निश्चयात्मक स्वरूप के बोध के लिए चित्त की आयत्तता अर्थात् निरोध अत्यन्त आवश्यक है। सुरथ इसे समझ रहे हैं कि चित्तायत्तता के बिना उनके मन के दुःख के लिए कुछ उपस्थित है पर वह क्या और कैसे है, यह वे नहीं जान पा रहे हैं अर्थात् संकल्प विकल्पात्मक उनका मन निश्चयात्मक नहीं वन पा रहा है, यह क्यों?

राज्याङ्ग:– राज के सात अङ्ग होते हैं। १. राजा २. अमात्य ३. मित्र ४. कोष ५. राष्ट्र ६. दुर्ग तथा ७. सैन्य। सुरथ 'पुर' के रूप में राष्ट्र तथा दुर्ग का, हाथी और अनुगत भृत्यों के रूप में सुहृत् मित्र का तथा कोश का चिन्तन कर चुके थे। दुष्ट अमात्यों के विषय में तो वे सोचते ही रहते थे

तथा यह भी जान रहे थे कि अब वे गतराज्य हैं। इस प्रकार राज्य के सातों अङ्गों के विषय में वे सोचते रहते थे। उन जैसे बुद्धिमान् को तो अब बदली हुई नई परिस्थिति में केवल अपने ही विषय में सोचना चाहिए था तथा जीवन की नई पद्धति निश्चित करनी चाहिये थी। पर वे तो 'गतं न शोचामि' को भूलकर मूर्ख की तरह उसे ही सोच रहे थे। वह कौन सा कारण था, जिसके वशीभूत होकर सब कुछ जानते हुये भी वे वैसा वर्ताव नहीं कर पा रहे थे– यही उनका अनुशय था।

हार्दी– स्नेह युक्त। एक ओर हृतस्वाम्य सुरथ अपनी पूर्वावस्था को नहीं भूल पा रहे थे और दुःखी थे। पर वे जिनके कारण विपत्ति आई थी उनके लिए व्याकुल नहीं थे। इधर समाधि उनके ही लिए हार्दी अर्थात् स्नेहयुक्त था, जिनसे वह तिरस्कृत तथा त्यक्त हुआ था।

एवमेष तथाऽहं च द्वावप्यत्यन्तदुःखितौ ॥ ३२ ॥
दृष्टदोषेऽपि विषये ममत्वाकृष्टमानसौ
तत्किमेतन्महाभाग यन्मोहो ज्ञानिनोरपि ॥ ३३ ॥
ममास्य च भवत्येषा विवेकान्धस्य मूढता ॥ ३३ क ॥

इस प्रकार जिस विषय के दोष देख लिये गये हैं उस विषय में भी ममत्व के कारण लगे मन वाले मैं और यह महाशय दोनों ही अत्यन्त दुःखित हैं। विवेक के विषय में अन्धे अथवा अविवेक के कारण अन्धे व्यक्ति की ऐसी मूढता होती है। मेरे और इनके जैसे ज्ञानियों को भी मोह हो रहा है। हे महाभाग ! यह क्या है ? अर्थात् मोह तो अज्ञानियों को होता है। हम दोनों तो ज्ञानी हैं।

एषा विवेकान्धस्य– एषाऽविवेकान्धस्य रूप पदच्छेद अधिक सुस्पष्ट है। एषा + विवेकान्धस्य तो अतिप्रचलित है।

चक्रवर्ती सम्राट् सुरथ मूर्ख तो थे नहीं और न तो कुलानुसारी धनी वैश्य समाधि ही मूर्ख था पर आज छोटी सी बात में उन्हें अपनी मूर्खता प्रतीत हो रही थी। इस मूर्खता का कारण वे जानना चाहते थे।

प्रकृति का नियम अविचल होता है। निश्चित कारणों के रहने पर निश्चित कार्य होता है। इसमें विसंवाद नहीं हो सकता है। प्रकृति के रहस्यों के अन्वेषक वैज्ञानिक जानते हैं कि यदि कारण सामग्री एक सी हो तो कार्य की उत्पत्ति एक जैसी ही होती है अर्थात् परिणाम एक जैसा होगा। पर यहां बात दूसरी थी। स्वजन त्यक्त सुरथ तथा समाधि दोनों ही दुःखी थे, आक्रोशग्रस्त थे

पर सुरथ आक्रोश में विपत्ति के कारणों के प्रति मोह नहीं था किन्तु समाधि आक्रोश में विपत्ति के कारणों के प्रति भी स्नेह था। ऐसा क्यों? दूसरी बात यह भी थी कि कारणों का निदान हो जाने पर चिकित्सा करने पर रोग का शमन हो ही जाता है। पर यहाँ दोनों ही विवेकी थे। दुःख के कारण के विषय में उन्हें ज्ञान था। कारण की चिन्ता छोड़ना ही उनका उपाय था। इसे वे भलीभाँति जानते थे पर आश्चर्य है कि वे छोड़ नहीं पाते थे। ज्ञानी होकर भी अज्ञानी की तरह आचरण कर रहे थे। ज्ञान और अज्ञान का आधार एक नहीं हो सकता है। पर यहाँ दोनों ही समान काल में ज्ञान और अज्ञान दोनों के आश्रय बने हुए थे।

एक बात और यह भी है कि जीवन के प्रति अत्यन्त अनुराग दोनों में था। अर्थ और काम की पूर्ति में दोनों अब तक संलग्न थे। पर जिसे जीवन भर संजोया आज वही उनके साथ नहीं आ रहा था। इसके विपरीत ऋषि मेधा अर्थ तथा काम को हेय समझ कर एक दूसरा ही मार्ग अपना रखे थे तथा देखने में अत्यन्त शान्त अक्षुब्ध प्रतीत हो रहे थे। इसलिए आज मार्कण्डेय के महाभाग (सुरथ) ने ऋषि मेधा को महाभाग कहकर पुकारा और यह जानना चाहा कि ज्ञानी कीमूर्खता क्यों और कैसे? यहाँ ध्यातव्य है सुरथ वास्तव में ज्ञानी शब्द का अर्थ नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में आज कार्य कारण भावपरक जडप्रकृति विषयक ज्ञान ही ज्ञान था। अतः ऋषि मेधा को एक सर्वथा नूतन प्रकार से विषय को समझाना पड़ा।

ऋषिरुवाच

ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ॥ ३४ ॥
विषयश्च महाभाग याति चैवं पृथक्पृथक्
दिवान्धाः प्राणिनः केचिद् रात्रावन्धास्तथापरे। ३५ ॥
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः ॥ ३६ ॥

ऋषि ने कहा—हे महाभाग ! बन्धन के हेतु इन्द्रियों के अर्थ में सभी प्राणियों को ज्ञान रहता है। इसी प्रकार विषय इन्द्रियों का अर्थ-भी भिन्न भिन्न होता है। कुछ प्राणी दिन में नहीं देखने वाले होते हैं तथा कुछ रात्रि में नहीं देखने वाले होते हैं तथा कुछ प्राणी दिन तथा रात्रि (दोनों) में समान दृष्टि वाले होते हैं।

ऋषि के उत्तर देने के पूर्व यह स्पष्ट हुआ था कि सुरथ अपने तथा वैश्य को ज्ञानी मान कर यह प्रश्न पूछ बैठे थे कि 'तत् किमेतन्महाभाग

यन्मोहो ज्ञानिनोरपि' अर्थात् मेरे और इनके जैसे ज्ञानियों को भी मोह हो रहा है। हे महाभाग ! यह क्या है ? वस्तुतः सुरथ का विचार था कि यह ज्ञान का स्वभाव है कि जहां वह रहेगा वहां उसका विरोधी अज्ञान अर्थात् मोह नहीं रहेगा। वह सोचते थे कि मैं भी ज्ञानवान् हूं पूर्वापर का ज्ञान रखता हूं। इसी प्रकार वैश्य भी है। फिर अनुरक्ति के अभाव के प्रति यत्नतः प्रवृत्त हम लोगों में अनुराग क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय ऋषि ने यह लक्षित किया कि सुरथ वस्तुतः ज्ञान और मोह के स्वरूप को भी नहीं जानते हैं। अतः ज्ञान मार्ग को जानने में प्रवृत्त प्रारम्भिक शिशु के प्रति जैसी भूमिका की आवश्यकता होती है उसका समाश्रयण लेकर उन्होंने उत्तर दिया—महाभाग आप कह रहे हैं कि हम दोनों ज्ञानियों को मोह हो रहा है अर्थात् त्याज्य विषयों के प्रति अनुराग हो रहा है, यह क्या है ? पर आप थोड़ा सोचें तो कि इस समस्त सृष्टि में कौन सा प्राणी है जो ज्ञानवान् नहीं है ? किसी वस्तु के विषय में कुछ जानना ही तो ज्ञान है। वह उस विषय का ज्ञान भी इन्द्रियों के द्वारा होता है। इसलिए विषय इन्द्रियों के अर्थ कहलाते हैं। गो का तात्पर्य इन्द्रिय से होता है। फलतः गोचर का अर्थ विषय होता है। अर्थात् संसार के सभी वस्तु गोचर अर्थात् विषय कहलाते हैं। विषय कहलाने का एक दूसरा कारण यह भी है कि वे बांधने वाले फंसाने वाले होते हैं। उनकी व्युत्पत्ति ही है विजिणोति बध्नाति इति विषयः। फलतः यह देखा जाता है कि सृष्टि में जितने भी वस्तु हैं, उनका ज्ञान किसी न किसी इन्द्रिय के द्वारा ही होता है। यदि शब्द का ज्ञान कर्णेन्द्रिय से होता है तो रुप का ज्ञान चक्षु इन्द्रिय से होता है। इसलिए शब्द रूप आदि सभी विषय गोचर हैं, विषय हैं। साथ ही वे बांधने वाले भी हैं। इन्हीं के फेर में पड़कर मनुष्य आकृष्ट होता रहता है। अतः हे महाभाग सुरथ ! आप ही बतायें कि सृष्टि में कौन ऐसा प्राणी है, जो विषयों का कुछ न कुछ ज्ञान न रखता हो ? यदि समस्त प्राणी ज्ञान रखते हों तो क्या आप कह सकते हैं कि आप ही दोनों ज्ञानी हैं ? रही बात ज्ञान के उपयोग की क्षमता का तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञान के विषय में क्षमता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। उदाहरणार्थ रूप के ज्ञान के विषय को ही ले लें तो आप देखेंगे कि किसी को रूप का ज्ञान केवल दिन में ही होता है किसी को केवल रात्रि में ही होता है तथा किसी को दिन तथा रात्रि दोनों में बराबर होता है। अब आप बतायें कि कौन ज्ञानी है और कौन नहीं है ?

ऋषि का आशय यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है। (१) ज्ञान सामान्य (२) ज्ञान विशेष। यदि किसी प्रकार के ज्ञान को आप ज्ञानानें म

अर्थात् ज्ञान सामान्य माने तो आप का कहना उचित नहीं है। क्योंकि तब तो ज्ञान सामान्य रखने के कारण सभी प्राणियों को मोह नहीं होना चाहिए। पर सभी तो मोहयुक्त दिखाई देते हैं, फिर आप दोनों में क्या वैशिष्ट्य है? रही बात ज्ञान विशेष की। तो यहां भी आप देखें कि ज्ञान विशेष अर्थात् किसी एक इन्द्रिय के ही द्वारा उपलब्ध होने वाला ज्ञान भी प्राप्तिकर्ता के भेद से कितना भिन्न भिन्न होता है। उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता है। गौरैया आदि पक्षियों को रात्रि में नहीं दिखाई देता है तथा मार्जार आदि को दिन तथा रात्रि दोनों में समान दिखाई देता है। स्पष्ट है कि विशेष ज्ञान रूपज्ञान में इन तीनों प्राणियों की त्रेधा प्रवृत्ति है और ये भी मोहविहीन नहीं हैं। फिर आप बतायें कि आपके अनुसार सामान्य ज्ञान वाले को मोह नहीं होना चाहिए, यदि ऐसा मानें तो भी ठीक नहीं है। यदि विशेष ज्ञान वाले को मोहविहीन मानें तो भी ठीक नहीं जंचता। अब आप ही समझें कि आपका यन्मोहो ज्ञानिनोऽपि' कहना स्वयं में क्या अर्थ रखता है? जिस प्रकार ज्ञानमात्र के साथ मोह का वैयधिकरण्य नहीं बनता है उसी प्रकार ज्ञानमात्र के साथ मोह का सामान्याधिकरण्य भी नहीं बनता है।

ज्ञानम्-यह पारिभाषिक शब्द है विभिन्न दर्शनों में इसके स्वरूप तथा उपलब्धियों के प्रति पर्याप्त विवाद है पर यहाँ इसका सीधा सा अर्थ है कि इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपलब्ध बोध ही ज्ञान है।

विषय गोचरे-गो का अर्थ इन्द्रिय होता है। इन्द्रिय के द्वारा जिसे जाना जाय यह गोचर कहलाता है इन्द्रियों के द्वारा जिसे जाना जाय उसे विषय भी कहते हैं। अतः यहां शङ्का होती है विषय तथा गोचर दो शब्द एक ही अर्थ को कहने वाले रखे गये हैं, इसमें एक निरर्थक है पर ऐसी बात नहीं है। यहाँ विषय शब्द का अर्थ विषिणोति बध्नाति इति विषयः इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'बाँधने वाला होता है' फलतः विषय गोचर का अर्थ इन्द्रियों का वह अर्थ जो बांधने वाला है अर्थात् 'बांधने वाला विषय' कहना चाहिए बांधने वाले विषय में सभी प्राणी को ज्ञान रहता है यह अर्थ उपयुक्त होता है।

महाभाग- संस्कृत भाषा विशेषणों के प्रति बड़ी सावधान रहती है। सुरथ ने मेघा के लिए महाभाग सम्बोधन का प्रयोग किया था। यहां मेघा भी सुरथ के लिए महाभाग का प्रयोग कर रहे हैं। विपन्न तथा मोहग्रस्त सुरथ के लिए क्या महाभाग का प्रयोग उचित है, ऐसा प्रश्न यहां होता है उत्तर है कि उचित शिष्य के साथ यदि गुरु उचित व्यवहार करे तो शिष्य को विषय शीघ्र ज्ञात हो जाता है। महाभाग शब्द के प्रयोग से सुरथ में आगत हीन

भावना का नि:सारण करना ऋषि का प्रधान लक्ष्य था। साथ ही मेधा का त्रिकालज्ञ होना इससे सिद्ध होता है। सुरथ महाभाग थे, यह वे जानते ही हैं। भविष्य में महाभाग होंगे, यह घटनाक्रम उन्हें बता रहा था। फिर वर्तमान में भी उन्हें महाभाग कहने में ऋषि को कोई अड़चन नहीं दिखाई दे रही थी क्योंकि ज्ञान के प्रति जिस क्षण अनुराग प्रवृद्ध हो जाय, उस क्षण से ही व्यक्ति महाभाग सम्बोधन का अधिकारी बन जाता है।

विशेष– वेदान्तज्ञ इस श्लोक की व्याख्या या निशा सर्व भूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी इस गीता के श्लोक के आधार पर भी करते हैं।

ज्ञानिनो मनुजाः सत्यं किं नु ते नहि केवलम् ॥ ३६ ॥

यतो हि ज्ञानिनः सर्वे पशुपक्षिमृगादयः
ज्ञानं च तन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम् ॥ ३७ ॥

मनुष्याणां च यत्तेषां तुल्यमन्यत्तयोभयोः
ज्ञाने ऽपि सति पश्यैतान् पतङ्गाञ्छावचञ्चुषु ॥ ३८ ॥

कणमोक्षादृतान्मोहात्पीड्यमानानपि क्षुधा
मानुषा मनुजव्याघ्र साभिलाषाः सुतान्प्रति ॥ ३९ ॥

लोभात्प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि ॥ ३९ क ॥

नि:सदिग्ध रूप में मनुष्य ही ज्ञानी हैं (यदि ऐसा कोई कहे) तो क्या केवल वे ही (ज्ञानी) हैं ? नहीं, (ऐसा नहीं है)। क्योंकि सभी पशु, पक्षी तथा मृग आदि ज्ञानी होते हैं। मनुष्यों का ज्ञान जिस प्रकार का हे वैसा ही उन मृगों तथा पक्षियों का है साथ ही, उन दोनों मनुष्यों तथा पशुओं आदि में जो कुछ अतिरिक्त (प्रवृत्ति) आदि (दिखाई देती है वह) भी समान है। ज्ञान के रहने पर भी अपने बच्चों के चोंच में कण डालने में हठात् प्रवृत्त तथा भूख से पीड़ित होने वाले इन पक्षियों को तो देखिये। हे उच्च मानव ! मनुष्य भी बच्चों के प्रति (इसी प्रकार) अभिलाष युक्त रहते हैं। लोभ के कारण प्रत्युपकार की आशा में (निरत) इन (मनुष्यों) को क्या आप नहीं देख रहे हैं ?

'समान विषय में असमान प्रवृत्ति वाले प्राणियों को देखने से पता चलता है कि विषय की एकता के बाद भी प्राणि-निर्माण की प्रक्रिया में भेद होने के कारण जो परस्पर में समान नहीं है उनमें पारस्परिक दृष्टान्त की उपस्थिति नहीं हो सकती है। इसलिये मनुष्यों और पशुओं पक्षियों की तुलना व्यर्थ है। मनुष्य, मनुष्य है, पशु, पशु। मनुष्य ज्ञानी है और पशु आदि शेष प्राणी

इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति के कारण विषयों मे प्रवृत्त होते हैं, ऐसी आशङ्का को निरस्त करते हुये मेधा स्पष्टतः बताते हैं कि मनुष्य ही केवल ज्ञानी है, ऐसी बात तो नहीं है। ज्ञानी तो सभी पशु पक्षी भी हैं। क्योंकि ज्ञान का पता प्रवृत्ति से चलता है। प्रवृत्ति तो इन सभी की एक जैसी है। इसलिए सभी ज्ञानी कहे जायेंगे। आहार, निद्रा, भय, मैथुन रूप प्रवृति मानवों तथा पशुओं की एक सी ही होती है। मनुष्य ज्ञानी है, यह सही है पर वह केवल ज्ञान वाला ही है, ऐसी बात नहीं है। वह अज्ञान मिश्रित ज्ञानवाला हैं। यही स्थिति पशु पक्षियों की भी है। यदि कोई यह कहे कि ज्ञान का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान है और वह मनुष्य के ही पास है तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न भी विषयों के प्रति वैसे ही देखे ही जाते हैं जैसे शास्त्रीय ज्ञान न रखने वाले। शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न केवल वार्ता करते हैं और विज्ञान विरहित होने के कारण मोहग्रस्त ही रहते हैं। भला दीप की वार्तामात्र करने से कहीं अन्धकार भागता है ?

विज्ञानरहितं ज्ञानं नहि बन्धविमोक्षकम्।
नहि दीपस्य वार्ताभिस्तमो नश्यति तत्क्षणात्॥ (मोक्षधर्म)

के अनुसार केवल शास्त्र ज्ञान सम्पन्न मनुष्य पशुओं तथा पक्षियों से भिन्न व्यवहार नहीं कर सकते हैं। इसलिए कहना पड़ेगा कि अज्ञान मिश्रित ज्ञान सम्पन्न मनुष्य तथा पशु पक्षी समान हैं। व्यवहार की दृष्टि से भी ज्ञानेतर अन्य भोजन, शयन आदि विषयों में भी दोनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

यह निश्चित होने पर कि पक्षी भी ज्ञान सम्पन्न ही हैं, यह स्पष्ट दिखाई देता है कि यह जानते हुए भी कि बच्चों के भोजन से उनकी उदर पूर्ति नहीं होती वे अपने भूख से व्याकुल रह कर भी अपने बच्चों का उदर पोषण करते हैं ये दाना चुग कर ले आते हैं तथा बच्चों को खिलाते हैं। यही स्थिति मनुष्यों की भी है। वे भी बच्चों का पालन करते हैं। यहाँ तक तो बराबरी है पर मनुष्य तो इन पक्षियों से भी गया बीता है। पक्षी तो निसर्ग ज्ञान प्रेरित होकर बच्चों का पालन करते हैं। भविष्य में वे बच्चे उनके लिए उपकारी होंगे, ऐसी आशा उन्हें नहीं है। पर मनुष्य तो बच्चों के प्रति किए गए पालन रूप व्यवहार को भी उपकार मानकर लोभ वश भविष्य में प्रत्युपकारो की भावना से उनसे सद्व्यवहार की आकांक्षा करता रहता है और न पाने पर दुःखी रहता है। यह तो मोह की विषम परिणति है। इससे निष्कर्ष

निकालना पड़ता है कि उन मनुष्यों से तो पशु पक्षी ही अच्छे हैं। इसीलिए ऋषि कहते हैं कि सुरथ क्या आप इन मनुष्यों को नहीं देख रहे हैं, जो पशु पक्षियों से भी गये बीते हैं। पूर्व पूर्व के व्यवहार को देखते हुए भी भविष्य के प्रति साभिलाष हैं। ऐसी स्थिति में स्पष्ट होता है कि ज्ञान और मोह एक साथ एक अधिकरण में रह सकते हैं। फिर आपकी शंका के लिए कहां स्थान है ?

पशुपक्षिमृगादयः–'यहां पशु और मृग शब्द समानार्थक हैं। इसलिए पशु पक्षी यहीं कहना चाहिए था। मृग कहने का तात्पर्य क्या है' ऐसी शङ्का का उत्तर है कि पशु और मृग शब्द समानार्थक हैं, इसमें प्रमाण स्वयं सप्तशतीकार भी हैं जब वे इत्तेषां 'मृगपक्षिणाम्' कहते हैं। यहां वे पशु को मृग ही मान लिए हैं। पर पशुपक्षिमृगादयः में पशु शब्द से ग्राम्य पशु तथा मृग शब्द से आरण्य पशु का बोध करना चाहिए। गौ मेंड़ा, बकरा, घोड़ा, गदहा, खच्चर तथा मनुष्य ये सात प्राणी ग्राम्य पशु कहलाते हैं। भैंस, वानर राक्षस, सांप हरिण, पृषत् तथा व्याघ्र ये सात प्राणी आरण्य पशु कहलाते हैं

तथापि ममतावर्तें मोहगर्तें निपातिताः ॥ ४० ॥
महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणः ॥ ४१ क ॥

फिर भी-मोहमिश्रित ज्ञान रखने पर भी संसार की स्थिति करने वाले (वे प्राणी) महामाया के प्रभाव से उस मोह के गड्ढा में गिरा दिये जाते हैं, जिसमें ममता रूपी भँवर रहता है।

ऋषि ने पहले कहा है कि ज्ञान सामान्य रखने वाले प्राणी तो मोहविहीन नहीं होते हैं, ज्ञान विशेष रखने वाले भी मोह विहीन नहीं होते हैं। अपने पुत्रों के प्रति साभिलाष मनुष्य यद्यपि अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान् होता है उसमें विचार तथा तर्क की प्रधानता रहती है, मोह विहीन होने की सम्भावना वहां हो सकती है फिर भी ऐसा होता नहीं है। कथञ्चित् मनुष्य इस रहस्य को यदि जान भी ले कि सांसारिक विषय बन्धन के हेतु हैं तथा इनसे छुटकारा ले लेना चाहिये तब भी वह छुटकारा पाता नहीं है। क्योंकि स्वभावतः मनुष्य संसार में अनुरक्त रहने वाला उत्पन्न होता ही है। अनन्तकाल से मनुष्य मनुष्यों को उत्पन्न करता चला आ रहा है। सहज अनुरागवश संसार की स्थिति बनाये रखने में मनुष्य प्रवृत्त है ही। यदि कदाचित् किसी को विराग उत्पन्न भी होता है और वह बन्धन के हेतु से छुटकारा लेना भी चाहता है पर वैसा कर नहीं पाता है। इसमें कारण है एक अज्ञात शक्ति का प्रभाव। उस अज्ञात शक्ति को 'महामाया' कहते हैं। महामाया का प्रभाव उद्धार पाने वाले मनुष्यों को एक

गड्ढा में ढकेल देता है, जिसे हम मोह अर्थात् अज्ञान का गड्ढा कह सकते हैं। सम्पूर्ण मोह से भरा हुआ यह गड्ढा भी बड़ा विचित्र है। जल के गड्ढा से तब मनुष्य तैर कर पार पा जाता है जबकि उसमें जल का आवर्त भँवर न हो। यदि आवर्त में फँस जाता है तो उसकी सारी शक्ति वह आवर्त समाप्त कर देता है और थककर वह व्यक्ति डूब जाता है। उसी प्रकार महामाया के प्रभाव के द्वारा मोह के विषय गड्ढा में गिराया गया व्यक्ति भी निकलने में असमर्थ हो जाता है। क्योंकि वह मोहगर्त ममता रूप आवर्त से भरा है। यह ममतामोह की ग्रन्थि ही है। ममता रूप आवर्त से व्याप्त मोह गर्त से निकलना अति कठिन है। प्रथमतः तो इस विचित्र गर्त से निकलने की आकांक्षा ही नहीं होती है पर कदाचित् यदि मुहुः मुहुः उन्मज्जन से विरक्ति होने पर निकलने की आकांक्षा भी हो तो कैसे निकला जाय ? अब तक संसार को बनाये रखने की ही स्थिति में निपुण प्राणी निकलने की विधि तथा आवश्यक सहायक को भी तो नहीं जानता रहता है।

ममतावर्त—'मम इदम्–'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि ही ममता कहलाता है और यही चक्कर में डालने वाली होती है, इसलिए उसे ममतावर्त कहते हैं। स्पष्टतः अस्वीय में स्वीय ज्ञान ही ममता है।

मोहगर्त—अज्ञान का दूसरा नाम मोह है। कुछ टीकाकारों ने यहाँ मोह रूपी गर्त अर्थ किया है। उनके अनुसार मोह ही गर्त है, जिसमें ममता रूप आवर्त रहता है। यहां प्रश्न होगा कि मोहरूप गर्त में जल के स्थान में क्या वस्तु रहती है, जिसका आवर्त ममता है ? अतः मोह रूप गर्त के स्थान पर मोह का गर्त ऐसा अर्थ करना समीचीन होगा। जल के गड्ढा में जल ही भरा रहता है और उसका चक्रीकृत रूप आवर्त होता है। यहाँ भी मोह से ही लबालब भरे गर्त में ममता रूप आवर्त रहता है, समझना चाहिए। मोह से तो निकला जा सकता है पर ममता से निकलना असम्भव सा ही है।

महामाया प्रभावेण-महामाया किसे कहते हैं इस पर पहले कुछ विचार किया गया है तथा आगे भी विचार किया जायेगा। यहां इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि एक अदृष्ट पर अनुभव योग्य शक्ति ही महामाया है। प्रकृत स्थल में 'महामाया प्रभावेण' यह शब्द कर्मवाच्य वाक्य का कर्ता है।

संसारस्थितिकारिणः—प्राणियों से ही संसार की स्थिति बनती है। इसलिए वे ही संसारस्थितिकारी कहलाते हैं। संसार रूप गर्त के पक्षधर प्राणी का उस गर्त में गिरना बड़ा सरल भी है, जिसे उन्होंने बड़ो चाव से सुरक्षित रखा है तथा जो मोह रूप जल एवं ममता रूप आवर्त से व्याप्त है। महामाया

प्रभाव रूप कर्ता के द्वारा संसारास्थितिकारी रूप प्राणी कर्म, मोहगर्तरूप अधिकरण में गिराये जाते हैं।

यहां संसारस्थितिकारिणा भी पाठ मिलता है। उनके अनुसार महामाया का प्रभाव ही संसार की स्थिति करने वाला होता है। वह प्रभाव यह चाहता है कि संसार बना रहे, इसलिए वह मनुष्यों को मोहगर्त में गिराता है। यहाँ पूर्व श्लोक से मानुषाः पद की अनुवृत्ति करनी पड़ती है यह एक टेढ़ा व्यायाम होता। दूसरी बात यह भी है कि महामाया का प्रभाव यदि संसार स्थिति कारी मात्र ही रहेगा तो उद्धृति कौन करेगा ? इसलिए आप्त टीकाकारों की अधिक संख्या संसार स्थितिकारिणः पाठ ही मानती है।

तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत्पतेः ॥४१॥
महामाया हरेश्चैतत्तया संमोह्यते जगत्
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ॥४२॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम् ॥४३॥
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥४४॥
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥४४॥

इसलिए 'ज्ञान रहने पर भी मोह क्यों' इस विषय में विस्मय नहीं करना चाहिए। जगत्पति हरि की योगनिद्रा महामाया है। उससे ही यह जगत् मोहित किया जाता है। क्योंकि वही देवी महामाया भगवती ज्ञानियों के चित्तों को भी हठात् खींचकर मोह को दे देती है। उसी के द्वारा चर अचर रूप समस्त जगत् उत्पन्न किया जाता है। यही प्रसन्न होकर मनुष्यों की मुक्ति के लिए वर देने वाली होती है। यह मुक्ति की कारणभूता सनातनी परमा विद्या है और सर्वेश्वरों की ईश्वरी यह ही संसार रूप बन्ध का हेतु भी है।

ज्ञान और मोह एक अधिकरण में कैसे रहते हैं अथवा 'ज्ञानियों को मोह क्यों होता है इस विषय में ऋषि मेधा का कहना है कि यहां विस्मय नहीं करना चाहिए। यह आश्चर्य का विषय हैं कि दो विरोधी वस्तु युगपत् एक स्थान में स्थित रहते हैं। 'तुलसी कबहुंक रहि सकें रवि रजनी इक ठांव' के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिए पर अघटित घटना पटीयसी भगवती महामाया के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। वस्तुतः देखने में तो रवि रजनी एक स्थान में नहीं दिखाई

देते पर यह ही बड़ा आश्चर्य की बात है कि रवि स्वयं कृष्ण वर्ण के होते हैं। अत्यन्त तेज: सम्पन्न भुवन भास्कर, जिनसे समस्त लोक प्रकाशित होता है तथा जो देखने में रक्तवर्ण दिखाई देते हैं वस्तुतः स्वयं कृष्णवर्ण हैं।

भगवान् विष्णु पर जगत् के पालन का भार रहता है। अतः वे ही जगत् पति कहलाते हैं पापों का हरण करने के कारण उन्ही का दूसरा नाम हरि भी है। हरि की तमः प्रधान शक्ति का ही नाम योगनिद्रा है। त्रिगुणा भगवती महालक्ष्मी के तमः प्रधान अंश को महामाया कहते हैं। अत: तमः प्रधान शक्ति का पर्याय महामाया ही होता है। एतावता हरि की योग निद्रा भी महामाया ही सिद्ध होती है। इस चराचरात्मक जगत् को मोहित करने का प्रधान कारण यह योगनिद्रा रूपा महामाया ही होती है। जगत् के पति हरि इस योगानिद्रा रूप महामाया से मोहित नहीं होते हैं। यह योगानिद्रा प्राणि सुलभ निद्रा से भिन्न स्वभाव होती है। वस्तुतः यह परमानन्द शक्ति होती है। साधारण निद्रा तो देवों के भी पास तक नहीं जाती है। क्योंकि देवों का एक नाम अस्वप्न भी होता है।

यह भगवती योगनिद्रा रूपा महामाया, साधारण लोगों की कौन कहे, सांसारिक विषयों में अनासक्त ज्ञानियों के चित्त अन्तःकरण को भी मोह अर्थात् सांसारिक विषयों में ममत्व के फेर में डाल देती है। उन ज्ञानियों का विषय निवृत्त चित्त भी विषयों की ओर उन्मुख हो जाता है। अचिन्त्य महिमावाली यह द्योतनशीला देवी महामाया सृष्ट्युन्मुखी तमः प्रधान होती है। फलतः ज्ञानियों के निवृत्युन्मुख अन्तःकरण को विवेक की ओर से बल पूर्वक खींचकर मोहयुक्त कर देती है। 'तया' अर्थात् उस देवी के द्वारा यह विश्व 'विसृज्यते' अर्थात् उत्पन्न किया जाता है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि तया–उस देवी के द्वारा यह विश्व अविसृज्यते न त्यज्यते अर्थात् रक्ष्यते रक्षित किया जाता है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि वेदान्त के अनुसार सृष्टि की पारमार्थिकी सत्ता असत्य होती है पर व्यावहारिकी सत्ता बनी रहती है। इसी से इसे उत्पन्न होना माना जाता है जो उत्पन्न होता है यह विनष्ट अवश्य होता है' इस न्याय से सृष्टि का प्रलय भी होता है पर मीमांसक यह मानते हैं कि सृष्टि में प्रलय होता ही नहीं है। संसार सदा से ऐसा ही चला आ रहा है। इसलिए इनके पक्ष में तया + अविसृज्यते रूप व्युत्पत्ति के द्वारा यह अर्थ निकाला जाता है कि इस सृष्टि की रक्षा का भार इसी योगानिद्रा के ऊपर ही है। फलतः वह प्रवृत्ति की ओर सभी को उन्मुख करती ही है, चाहे कोई ज्ञानी ही क्यों न हो।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि तब तो किसी की भी मुक्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि यह सभी को ममत्व के चक्कर में डाल देगी ? इस शङ्का का निवारण करते हुये मुनि मेधा कहते हैं कि 'नहीं-ऐसी बात नहीं है। प्रसन्न होने पर यह मानवों को मुक्ति भी दे देती है, क्योंकि मुक्ति का हेतु भी तो सदासिद्ध यही भगवती है। इसी से तो इसे परमा विद्या भी कहा जाता है। यह ईश्वरों की ईश्वरी है। यही संसार रूप बन्ध का कारण भी है। एक ओर यह महामाया मुक्ति हेतु परमपुरुषार्थसाधनरूपा ब्रह्मज्ञानलक्षणा परमा विद्या-सा विद्या परमा-है, वहां ही दूसरी ओर यह सा + अविद्या + अपरमा भी हैं अर्थात् परमेतरा अविद्या भी है। साथ ही अमुक्तेः हेतुभूता असनातनी होने के कारण प्रवृत्तिव्यापाररूपा तथा संसारबन्ध का कारण भूता भी है।

यहाँ शङ्का होती है कि एक ही वस्तु बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर है कि जो सर्वेश्वरेश्वरी है उसमें असम्भव जैसी कोई बात नहीं है। जब वह चित् तथा जड़ दोनों की ही प्रवृत्ति है, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सबकी ही अधीश्वरी है तो उसमें मोक्ष और बन्ध दोनों का हेतु बनने का सामर्थ्य है। हां यह अवश्य है कि मोक्ष के लिए उसका प्रसन्न होना आवश्यक है। इसका यह आशय नहीं है कि अप्रसन्न होकर वह बन्ध का हेतु बनती है। सृष्टि करना उसका स्वभाव है, इसलिए स्वभावतः वह मोहग्रस्त करती ही है पर यदि वह प्रसन्न हो जाय अर्थात् यह चाह ले कि इस प्राणी के द्वारा सृष्टि नहीं करानी है तो वह मुक्ति का कारण बन जाती है। 'वह प्रसन्न कैसे होती है' इस पर ऋषि स्वयम् आगे प्रकाश डालेंगे।

महामायाः-महामाया अविद्या तथा विद्या रूपा दोनों ही हैं। अविद्या रूपा बन्ध का हेतु हैं तथा विद्या रूपा मोक्ष का हेतु हैं। ४४वें श्लोक से यह स्पष्ट है। यहाँ अविद्या पक्ष में इस श्लोक का पदच्छेद, 'सा+अविद्या+अपरमा+अमुक्तेः हेतुभूता+असनातनी+सैव+सर्वेश्वरेश्वरी संसार बन्ध हेतुः' होता है। यहाँ भी प्रत्येक पद के कई प्रासङ्गिक अर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) सा अविद्या-(क) विद्येतरा (ख) वेत्तीति वित् ब्रह्मज्ञानसंपन्नः ततोऽन्यः अवित् सांसारिकः तं याति इति अविद्या।

(२) अपरमा-(क) परा उत्कृष्टा मा मोक्षलक्ष्मीः ततोऽन्या अपरमा।

(ख) न विद्यते परा उत्कृष्टा मा मोक्षलक्ष्मीः यस्याः सा अपरमा।

(ग) अः विष्णुः तस्येव अपरा उत्कृष्टा या मोक्षलक्ष्मीर्यतो भवति सा अपरमा।

(घ) अः विष्णुः परम परोऽन्योऽधिकरणभूतो यस्या सा अपरमा ।

(३) अमुक्तेर्हेतुभूता–न विद्यते मुक्तिः यस्मात् त्रिवर्गात् सोऽमुक्तिः त्रिवर्गः धर्मार्थकामलक्षणः क्षयस्थानवृद्धिलक्षणोवा त्रिवर्गः तस्य हेतुभूता ।

(४) असनातनी–न सना सदाभवा असनातनी । अनादिरपि ह्यविद्या विद्याविनिवर्तनीयत्वात् अनित्या अध्रुवा ।

(५ सैव - क) साविद्या एव ।

(ख) अः विष्णुः तेन सह वर्तमाना सा विष्णुमाया एव सैव इति । सा अविद्या एव सा ।

(५) सर्वेश्वरेश्वरी -(क) सर्वैश्वर्गी अखिलप्रपञ्चरूपा । सैव ईश्वरी ऐश्वर्य सम्पन्ना ।

(ख) सर्वेषां लोकानाम् ईश्वराः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः तेषाम् ईश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी माहेश्वरीति व्यपदेशस्तत्र तद्वशीकृत्यौचित्या । स्वामिनी इति यावत् ।

(ग) सर्वेश्वराणाम् अपि ईश्वरत्व सम्पादिका ।

(घ) हे सर्वेश्वर राजन् (सा) ईश्वरी ।

(६) संसारबन्ध हेतुः–(क) संसार एव बन्धः तस्य हेतुः ।

(ख) संसारे बन्धस्य हेतुः ।

विद्यापक्ष में इस श्लोक का पदच्छेद होगा–सा + विद्या + परमा + मुक्तेः हेतुभूता + सनातनी + सर्वा + ईश्वरेश्वरी ।

इसका अर्थ होगा—

(१) सा विद्या–(क) वेत्ति इति वित् आत्मज्ञानं याति या सा विद्या ।

(ख) ब्रह्मज्ञान लक्षणा ।

(२) परमा–परमात्मतत्वगोचरत्वादुत्कृष्टा ।

(३) संसारबन्धहेतुः मुक्तेर्हेतुभूता–संसारबन्धरूपस्य हेता गता संसारबन्धहेता तस्य संसारबन्धहेतुः पुंस मुक्तेः मोक्षस्य हेतुभूता । अत्र हि गतो इत्यर्तः तृचि षष्ठयामेकवचने हेतुः इति रूपम् । हेतु गन्तुः इति पर्यायः । कर्तरि च इति विहितः षष्ठीसमासप्रतिषेधः अत्र प्रतिषिद्ध्यते, तस्य प्रायिकत्वात् ।

(४) **सनातनी**–(क) नित्या–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्मरूपत्वात्।

(ख) शाश्वती–'शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातना' इति कोशात्।

(५) **सर्वा**–सम्पूर्णा–विश्वरूपा

(६) **ईश्वरेश्वरी**–ईष्टे इति ईश्वरः तस्येश्वरी ईश्वरस्यापि स्वरूपदिदृक्षुत्वौचित्यात् अवाप्तव्यत्वात् अवश्याश्रयणीयत्वात् ईश्वरेश्वरी।

विश्वं जगदेतत् चराचरम्–यहाँ विश्वम्+जगत्+एतत्+चराचरम् रूप ४ पद प्रयुक्त हैं। चराचरम् में भी आपाततः चर+अचर रूप दो पद दिखाई देते हैं पर नाम रूप में प्रयुक्त यह शब्द एक पदात्मक भी दिखाई देता है। अमरकोश में 'चरिष्णु जङ्गमचरंत्रसमिङ्गं चराचरम्' वचन के अनुसार चराचर का अर्थ होता है चलनेवाला। विश्व और जगत् पर्याय शब्द हैं। दोनों शब्दों का साथ प्रयोग सभी कार्यजात के संग्रह के लिए माना जाता है। इसका एक समाधान यह भी है कि 'विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निःशेषम्' (अ० को) के अनुसार विश्व का अर्थ समस्त होता है। फलतः इन चारों पदों का समन्वित अर्थ होता है–'यह समस्त जङ्गम जगत्'। पर जगत् तो गच्छतीतिजगत् 'व्युत्पत्ति के अनुसार नित्य परिवर्तनशील जङ्गम होता है। अतः चराचरम् पद का अर्थ चर+अचर रूप कहना ही ठीक लगता है। स्थूल दृष्टि से चर+अचर विभाग होता है। वस्तुतः अचर भी तो परिवर्तित होते रहते हैं।

मुक्तेर्हेतुभूता– महामाया पद की व्याख्या में यह स्पष्ट है।

संसारबन्धहेतुः– महामाया पद की व्याख्या में यह भी स्पष्ट है।

राजोवाच

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान् ॥४५॥
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज
यत्स्वभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा ॥४६॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर ॥४६ क॥

राजा ने कहा—हे भगवन्! जिसे आप महामाया ऐसा कहते हैं, वह देवी कौन है, वह कैसे उत्पन्न होती है और हे द्विज! उसका कर्म क्या है? 'वह देवी जिस स्वभाव वाली है, जिस स्वरूप वाली है और जैसे उत्पन्न हुई है' यह सभी, हे ब्रह्मज्ञों में श्रेष्ठ! आपसे सुनना चाहता हूं।

विशेष (क) 'महामाया के द्वारा ही ज्ञानियों का चित्त भी बलात् मोहयुक्त कर दिया जाता है। इसी से ज्ञान और मोह एक अधिकरण में देखे जाते हैं। महामाया से ही समस्त जगत् उत्पन्न अथवा लक्षित होता है। वही मुक्तिः तथा बन्ध का कारण हैं एवम् वह ईश्वरों की भी ईश्वरी है' ऐसा ऋषि मेधा के द्वारा बताये जाने पर राजा को उस महामाया के विषय में विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हुई तथा उन्होंने तीन प्रश्न पूछा—वह देवी 'का'—'कथमुत्पन्ना'—'अस्या किं कर्म' अर्थात् महामाया स्वरूपतः कौन है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा उसके कार्य अर्थात् प्रभाव सामर्थ्य आदि क्या हैं? अपने इन्हीं प्रश्नों को उन्होंने क्रम बदल कर पुनः पूछा कि उसका स्वभाव क्या है अर्थात् उसका कर्म क्या है ? उसका स्वरूप क्या है अर्थात् वह कौन है तथा उसकी उत्पत्ति कैसे हुई है ?

(ख) एक ही प्रश्न को दो बार पूछने से यह ज्ञात होता है कि राजा समाधान के लिए अत्यन्त आतुर थे। परन्तु यहां सन्देह होता है कि प्रथम श्लोक में तो राजा ने का, कथम् उत्पन्ना तथा किं कर्म पूछा पर द्वितीय श्लोक में उन्होंने शब्दान्तर के द्वारा किं कर्म, का तथा कथमुत्पन्ना पूछा, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर है कि सिद्धान्त पक्ष मं तो कोई भी वस्तु वस्तुतः पहले रहती है फिर रूपान्तर को प्राप्त करती है तथा परिवर्तित रूप में अनेक कार्य करती हैं पर कदाचित् कोई व्यक्ति उसे जानना चाहे तो उसकी प्रथम प्रवृत्ति उसके कार्यों की ओर होगी। अनन्तर कार्यों से उसके मूल स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होगी तथा अन्त में उस मूलरूप के द्वारा उन कार्यों के होने के अन्तराल में होने वाली उसकी अवस्था अर्थात् मूलरूप से रूपान्तर में परिणत होने की कहानी को भी कोई व्यक्ति जानना चाहेगा। यही अवस्था राजा की भी थी।

लोक में एक छोटा बालक 'क', उर्दू काफ़, K आदि लिपियों के द्वारा शब्दों को सीखता है तथा उसे ही शब्द मानता है। पश्चात् काल में लिपि भेद होने पर भी शब्द ध्वनि की अखण्डता को जानने लगता है तथा लिपि ज्ञान के चमत्कार से हटकर शब्द स्वरूप को जानने की चेष्टा करता है। अनन्तर वह बालक उस शब्द के उच्चरित होने की प्रक्रिया जानने में सचेष्ट हो जाता है।

(ग) भारतीय प्रजा का अन्तिम लक्ष्य 'ब्रह्मविद्' होना होता है। यहां राजा ऋषि को ब्रह्मविदों में भी श्रेष्ठ मान रहे हैं तथा उनसे अपने उत्तर की आशा कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों राजा को ब्रह्म, ब्रह्मविद् आदि शब्दों का अर्थ ज्ञात था। पर जैसा आज भी 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' जैसे लोगों को मौखिक ज्ञान रहता है पर प्रायः लोग क्रियापक्ष से शून्य रहते हैं

वैसे ही राजा भी थे। 'ब्रह्म कुछ है' ऐसा वे जानते थे। यहां सिद्धान्त यह है कि ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती है। राजा को ज्ञान तो था पर समाधान नहीं था। इसी से कहा जाता है कि 'ज्ञानं भारः क्रियां विना'–क्रिया के बिना ज्ञान भार रूप होता है अर्थात् क्रियाविहीन ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती है। सिद्धान्त मात्र ज्ञानी का स्वभाव होता है कि वह क्रियाशून्य होता है। परन्तु क्रिया के बिना ज्ञान की चरितार्थता नहीं होती है तथा अचरितार्थ ज्ञान मुक्ति का हेतु भी नहीं बन सकता है। इसी से क्रिया पक्ष की आवश्यकता होती है फलतः सिद्धान्त माना जाता है कि 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' अर्थात् क्रियाविहीन को मुक्ति दिलाने में ज्ञान असमर्थ है। अतः आज अशेष क्रिया को जानने का इच्छुक राजा अशेष ज्ञान क्रिया रूप उस महामाया के विषय में ऋषि से पूछ रहे हैं कि—'सा देवी किं स्वभावा, किंरूपा, कथमुत्पन्ना' अर्थात् उस देवी के कार्य, स्वरूप तथा उत्पत्ति के कारणों को बताइये। निश्चित रूप से महामाया के विषय में राजा ज्ञान शून्य थे, नहीं तो, वे उत्पत्ति के कारणों के स्थान पर अभिव्यक्ति के कारणों को पूछते। फलतः कुल मिलाकर चार प्रश्न बनते हैं। १. का २. कथमुत्पन्ना ३. किं प्रभावा तथा ४. किंस्वरूपा।

ऋषिरुवाच

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥ ४७॥

तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा॥ ४८॥
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥ ४८ क॥

ऋषि ने कहा–(यद्यपि) वह जगन्मूर्ति (महामाया) नित्य ही है। उसी के द्वारा यह (परिदृश्यमान) सब कुछ किया गया है तथापिअनेक प्रकार से (हुई) उसकी सम्यक् उत्पत्ति मुझसे (आप) सुनें। जब वह नित्या (महामाया) भी देवताओं की कार्य सिद्धि के लिए आविर्भूत होती हैं तब इस लोक में वह उत्पन्ना कही जाती हैं।

राजा सुरथ ने ऋषि से तीन प्रश्नों के द्वारा ४ प्रश्न पूछे थे। १. वह देवी कौन है २. किस प्रकार से उत्पन्न होती है ३. उसका कर्म क्या है तथा उसका स्वरूप क्या है? इन प्रश्नों से राजा की महामाया विषयक जिज्ञासा प्रकट होती है राजा समझते थे कि यह महामाया भी प्राकृतजनों की भाँति उत्पन्न होती होगी, उसका भी कुछ इतिहास होगा, कुछ विशिष्ट स्वरूप होगा तथा कुछ

कार्य-विशेष करती होगी, जिसमें से एक तो वह जान ही लिये थे कि वह ज्ञानियों के चित्त का बलात् अपकर्षण करके मोह के जिम्मे लगाती है। परन्तु बात ऐसी नहीं। वस्तुतः महामाया के साथ केवल 'अस्ति–है' क्रिया ही लगती है, आसीत्-थी तथा भविष्यति–होगी क्रियायें तो लगती ही नहीं है। यदि उत्पन्न होना मान लें तो विनष्ट होना भी माना पड़ेगा तथा कालान्तर में पुनः उत्पन्न होना मानना पड़ेगा। ऋषि इस तथ्य को जानते थे अतः उन्होंने 'कौन' का उत्तर दो शब्दों में दिया। १. नित्या एवं २. जगन्मूर्तिः। वह देवी तो सदा रहने वाली है–नित्या ही है। रूप परिवर्तनशील एवं विनाशी होता है। इसलिए नित्या के साथ उत्पन्ना तो कहना ही अनुचित है। अतः वह कोई रूपवाली होगी, यह तो कहा ही नहीं जा सकता है। पर इस नीरूप महामाया के रूप को यदि किसी प्रकार जानना ही है तो यह कहना ही पर्याप्त है कि यह दृश्यमान जगत् ही उसकी मूर्ति है। इस प्रकार ऋषि ने स्पष्ट किया कि जगत् से अतिरिक्त कोई दूसरा मुख्य शरीर उसका है ही नहीं क्योंकि उसी नित्या के द्वारा यह जगत् तत है अर्थात् किया गया है। तत का एक अर्थ 'किया गया' होता है। पर कृति से कर्ता सदा भिन्न होता है। इससे प्रश्न होता है कि यदि इस परि-दृश्यमान् जगत् की कर्त्री महामाया है तो वह उससे भिन्न होगी फिर उसे जगन्मूर्ति कैसे कहा जायेगा। इसका उत्तर है कि इसीलिए तो कृतम् के स्थान पर ततम् का प्रयोग किया गया है। ततम् का दूसरा अर्थ विस्तारितम्–विस्तृत किया गया–फैलाया गया होता है तथा तीसरा अर्थ व्याप्तम् भी होता है। फलस्वरूप यह स्पष्ट होता है कि नित्या महामाया के द्वारा परिदृश्यमान् यह जगत् जो उसी से व्याप्त है, वस्तुतः वही है। उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उस नित्या का यह विलास है। इससे सिद्ध होता है कि वह चित्स्वभावा तथा सृष्टिस्वभावा नित्या शक्ति विशेष है। ऐसी स्थिति में उत्पन्ना कहना तो अशोभन होगा। पर यह सिद्धान्त की बात है–पारमार्थिक स्वरूप है।

यहां यह ध्यातव्य है कि पूर्व श्लोक में ऋषि ने भी 'तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्' कहा है अर्थात् उस देवी के द्वारा यह समस्त चराचर जगत् उत्पन्न किया जाता है। इसी आधार पर राजा ने स्वरूप तथा उत्पत्ति का कारण जानना चाहा था। पर प्रकृत प्रसङ्ग में ऋषि उस देवी को नित्या कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह कि सामान्य जिज्ञासु के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि एक शक्ति जिसके द्वारा संसार बनाया जाता है, वह बन्दनीय है'। पर यदि जिज्ञासु विशेष हो और प्रश्न पूछ बैठे कि 'फिर तो वह कर्त्री कहां बैठकर

यह संसार बनाती है, इसके बनाने में किन-किन सामग्रियों का उपयोग होता है, ये सभी सामग्रियां किस भण्डार–स्टॉक में रखी जाती हैं, सामग्री कब चुकती है, नष्ट सामग्री कहां रखी जाती है आदि' तो सामान्य जिज्ञासु को बड़ी कठिनाई हो जायेगी। इसलिए ऋषि पहले ही स्पष्ट करते हैं कि हे विशेष जिज्ञासु ! आप यह समझें कि वस्तुतः वह नित्या है, उसका कोई पारमार्थिक वपु नहीं है पर यदि आप जानना ही चाहते हैं तो इस जगत् को ही उसकी मूर्ति मान लें। क्योंकि इस जगत् के रूप में ही वह अपने को अभिव्यक्त करती है। वही सर्वत्र व्याप्त है उसी के द्वारा यह सारा विस्तारित है अर्थात् अत्यन्त ठेठ शब्दों में यह समझें कि उसी के द्वारा कृत हैं। अतः लौकिक दृष्टि से-सामान्य जिज्ञासु की दृष्टि से यदि कहा जाय तो इसे उत्पत्ति भी कह सकते हैं।

इस उत्तर में भी एक कठिनाई है। वह यह है कि यदि वह जगन्मूर्ति है तो उसकी उत्पत्ति-अभिव्यक्ति--तो हो चुकी है फिर 'तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम' के द्वारा उसकी उत्पत्ति की बात ऋषि कैसे चला रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि ऋषि ने 'नित्या एव' इस पद के द्वारा महामाया में प्राक्ध्वंसाभाव शून्यत्व रूप नित्यत्व बताया है। पुनः जगन्मूर्तिः पद के द्वारा दृश्यमान जो कुछ है, उससे उस महामाया की अभिन्नता बताते हुये उसके व्यक्त रूप को बताया है। 'सा' पद के द्वारा अव्यक्त एवं व्यक्त रूप की एकता बताई है तथा 'ततम्' पद के द्वारा सभी कार्य जात के प्रति उसकी हेतुता बताई है। अनन्तर व्यावहारिक रूप में लोक बुद्धि को दृष्टि में रखकर उसकी उत्पत्ति की चर्चा चला रहे हैं। उत्पत्ति का तात्पर्य व्यक्ति की अनुभूति से है। इसे ही अभिव्यक्ति कहते है। जिस क्षण व्यक्ति उस महामाया की सत्ता का अनुभव करता है उसी क्षण उसके लिए महामाया की उत्पत्ति हो जाती हैं। इसीलिए 'बहुधा' पद दिया गया है। विशिष्ट अनुभूतिक्षणों में केवल तीन बार की ही चर्चा ऋषि आगे करेंगे तथा देवी स्वयम् अप्रकृत रूप से अपने प्राकृतवत् अनेक अभिव्यक्तियों की चर्चा चलायेंगी।

'श्रूयतां मम'–मुझसे सुनें–कहकर ऋषि अत्यन्त आश्वस्त भाव से इस बात को सन्दिग्धरहित होकर कह रहे हैं कि उन्हें इस तत्त्व का साक्षात् ज्ञान है। वह ज्ञान भी अनेक प्रमाणों से अनुभूत है। उन्हीं अनुभूतियों का यह फल है कि यह निष्कृष्ट रूप से पता चलता है कि देवी का आविर्भाव देवताओं की कार्यसिद्धि के लिए होता है। अर्थात् नित्या, स्वतः अभिव्यक्ता महामाया का कार्य देवों की कार्यसिद्धि है। "जबकि महामाया विश्वमयी है और सभी

कार्यजगत के प्रति उसकी हेतुता भी स्पष्ट है तो उसकी उत्पत्ति का प्रयोजन देवों की कार्यसिद्धि ही हो तो यह कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। क्योंकि सभी कार्य ही उसके प्रयोजन हैं" ऐसी शङ्का न रहे, इसके लिए, यह जानना आवश्यक है कि इस प्रकृति का विधान ही ऐसा है कि महामाया का प्राथमिक अनुभव देवों को ही हो सकता है। देव शब्द का अर्थ देवत्वयुक्त होता है। नित्यप्रकाशित चैतन्य का विशिष्ट अंश ही देवत्व कहलाता है। कारणवशात् इसमें मलिनता आने पर शुद्ध चैतन्य स्वरूप की विस्मृति होने पर देवत्व विशिष्ट देव कलुषित हो उठता है। ऐसे प्रसंग में मलापहरण रूप क्रिया की सिद्धि के लिए महामाया का अविर्भाव हो जाता है। सद्यः अनुभूति से प्रणत देवों की प्रसन्नता से यह ज्ञात हो जाता है कि वह महामाया रूप नित्यतत्त्व का विलास हुआ है इसी को लौकिक भाषा में महामया का आविर्भाव कहा जाता है। यह आविर्भाव भी प्रार्थना के ही द्वारा होता है, ऐसा आगे हम देखेंगे। इस प्रकार उस नित्या को लोक में उत्पन्न कहा जाता है, जब कि उत्पत्ति तथा उसका कारण दोनों ही गौण हैं। मुख्य रीति से तो वह नित्या ही है।

> योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते ॥ ४९ ॥
> आस्तीर्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान्प्रभुः
> तदा द्वावसुरौ घोरौ विख्यातौ मधुकैटभौ ॥ ५० ॥
> विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ ॥ ५० क ॥

कल्प के अन्त में जगत् के एक समुद्ररूप हो जाने पर भगवान् प्रभु विष्णु जब शेष को विस्तर जैसा बनाकर योगनिद्रा का सेवन करने लगे तब विष्णु के कर्णमैल से उत्पन्न मधु तथ कैटभ (नाम से) विख्यात दो घोर असुर ब्रह्मा को मारने के लिए उद्यत हो गये।

कल्पान्ते जगत्येकार्णवीकृते भगवान् प्रभुः विष्णुः यदा शेषम् आस्तीर्य योगनिद्राम् अभजत् तदा विष्णुकर्ण मलोद्भूतौ मधुकैटभौ विख्यातौ द्वौघोरौ असुरौ ब्रह्माणं हन्तुम् उद्यतौ।

ऋषि ने राजा से कहा है कि वह महामाया मोहिका है अर्थात् ज्ञानियों के चित्त को बलात् मोह को दे देती है। साथ ही उन्होंने यह भी बताया है कि देवों की कार्यसिद्धि के लिए उनका अविर्भाव भी होता रहता है। इन्हीं दोनों बातों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक पुरानी घटना को बताया।

ब्रह्मा का एक दिन समाप्त हो चुका था। उनकी रात्रि आ गई थी। फलतः सभी सृष्टि समाप्त हो चली थी। विश्व में व्याप्त क्षीर, लवण, दधि, घृत, सुरा, इक्षु तथा जल रूप सातों समुद्र एक समुद्र–एक अर्णव बन चुके थे। सृष्टि का आधार पृथ्वी का कहीं दर्शन भी नहीं था। ऐसे समय में जगत् के अभाव में जगत् पालन रूप कार्य के अभाव के कारण ६ ऐश्वर्यों से सम्पन्न, अप्रतिहत इच्छा वाले विष्णु एकमात्र अवशिष्ट शेष नामक सर्प को विस्तर की भांति फैलाकर अपनी योगनिद्रा का आश्रयण ले लिये थे। उन्हीं दिनों उनके कान के मल से दो असुर उत्पन्न हुये, जिन्हें बाद में लोगों ने मधु कैटभ नाम से जाना है। स्वभाव वश वे दोनों उस एकान्त अवस्था में एकाकी ब्रह्मा को देखकर उन्हें मारने के लिए उद्यत हो गये।

भगवती महामया की मोहिका शक्ति तामसी होती है इस मोहिका शक्ति से भगवान् विष्णुजी जो प्रभु हैं, वे नहीं बच पाते हैं। भगवान् विष्णु की योगनिद्रा इसी मोहिका रात्रि का एक रूप है, इसलिए वह भी महामाया ही है। इतना अवश्य है कि यह योगनिद्रा उनके वश में रहती है। प्राकृत जन की निद्रा की भांति वे उसके वश में नहीं होते हैं पर उसके प्रभाव से वे वञ्चित नहीं रह पाते हैं। कार्य समाप्ति पर उसका समाश्रयण उन्हें लेना ही पड़ता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस समय की घटना का यहां वर्णन हुआ है और आगे चलकर इस सङ्कट की वेला में जिसकी सहायता से ब्रह्मा का प्राण बचा है, वह इस कल्प में महामागा का प्रथम लौकिक प्रादुर्भाव है। अपने निशावसान के पूर्व ब्रह्मा जब कि जग चुके थे तभी उन्होंने दो असुरों को देखा, तथा उनकी प्रवृत्ति से यह जान लिया कि वे उन्हें मारना चाहते हैं। ब्रह्मा देव कोटि के व्यक्ति थे। निश्चित व्यवस्था के अनुसार कार्य करसे वाले थे तथा पूर्व दिनों में सृष्टि कर चुके थे। वे जानते थे कि व्यवस्था को उलटने वाले असुर होते हैं तथा उनसे रक्षा करने का उत्तरदायित्व विष्णु पर है। सद्यः दृष्ट वे दोनों असुर ही थे तथा उनके द्वारा निर्मित भी नहीं थे। विष्णु सोये हुये थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने कर्तव्य का निश्चय किया।

स नाभिकमले विष्णोः स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः ॥ ५१ ॥
दृष्ट्वा तावसुरो चोग्रौ प्रसुप्तं च जनार्दनम्
तुष्टाव योगनिद्रां तामेकाग्रहृदयस्थितः ॥ ५२ ॥

विबोधनार्थाय हरेर्हरिनेत्रकृतालयाम्
विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीम् ॥ ५३ ॥
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलांतेजसः प्रभुः ॥ ५३ क ॥

विष्णोः नाभिकमले स्थितः तेजसः प्रभुः प्रजापतिः ब्रह्मा तौ असुरौ उग्रौ जनार्दनं च प्रसुप्तं दृष्ट्वा एकाग्रहृदयस्थितः सन् हरेः विबोधनार्थाय तां योगनिद्रां तुष्टाव। (काम् ताम् ?) अतुलां विश्वेश्वरीं, जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीं विष्णोर्निद्राम्।

विष्णु के नाभिकमल में स्थित अति तेजस्वी उस प्रजापति ब्रह्मा ने उन दोनों असुरों को उग्र तथा जनार्दन को प्रसुप्त देखकर एकाग्रहृदय होकर हरि के विबोधन के लिए उनके नेत्र में निवास करने वाली उस योगनिद्रा की स्तुति किया जिसकी कोई उपमा नहीं है तथा जो विश्व की ईश्वरी, जगत् की धात्री, स्थिति संहार करने वाली, भगवती है एवं विष्णु की निद्रा है।

जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा विनाश के लिए भगवती महालक्ष्मी के द्वारा निर्धारित ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश में ब्रह्मा इस समय सङ्कट में पड़ गये थे। यद्यपि वे प्रजापति हैं, इसलिए वे तेजप्रभु भी हैं तथापि इस समय वे अपने द्वारा अनुत्पन्न एवं विचित्र उग्र असुरों के द्वारा सङ्कट में डाले जाने वाले हैं। पालनकर्ता विष्णु भी स्वकर्मविरत हैं, क्योंकि वे भी सृष्टि की अनुत्पत्ति-स्थित में प्रसुप्त जैसे हैं। परन्तु उनकी प्रसुप्त जैसी अवस्था में भी विघ्न उन्हीं के शरीर से उनके न चाहते हुये भी उत्पन्न हो चुका था। महेश की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं थी, अतः वे भी अनुपस्थित थे ऐसी स्थिति में वह ब्रह्मा जो कथमपि अपनी रक्षा करने में असमर्थ थे तथा नाभिकमल जैसे सुकोमल आसन पर बैठे थे, उद्विग्न हो उठे। लेकिन एक असाधारण गुण उनमें था। वह था विपत्ति के क्षणों में भी हृदय को एकाग्र करने की क्षमता। उन्होंने चिन्तन किया कि अन्तोगत्वा हम त्रिदेव भी तो किसी के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। उसी की प्रेरणा से हम कार्य कर रहें हैं। उसकी इच्छा न रहने पर हम भी व्यर्थ हो जाते हैं। विष्णु इस समय सुप्त ही हैं। मैंने तो अभी सृष्टि की ही नहीं। राक्षस कहां से आ गये। निश्चित रूप से यह कार्य उभी का है, जो वस्तुतः इस जगत् की ईश्वरी है। वही जगत् की धात्री, स्थितिकर्त्री तथा संहारकर्त्री भी है। पर उसका पता कैसे लगे। तब तक ही उन्होंने स्पष्ट देख लिया कि देवगण तो निद्रा के वश में होते नहीं, वे अस्वप्न होते हैं, पर यह

विष्णु कैसे सुप्त जैसे दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट समझा कि यह सारा कार्य उस भगवती के किसी एक अंश सत्ता का ही हो सकता है, जो इस समय विष्णु के नेत्रों में अवस्थित दिखाई दे रही है इसी को तो माया कहते हैं। यही तो योगनिद्रा है। क्यों न इसी की स्तुति की जाय। यदि स्तुति से प्रसन्न होकर वह विष्णु के नेत्रों से अलग होगी तो विष्णु जागेंगे ही और फिर तो ये असुर विनष्ट ही होंगे और मेरे सृष्टि के कार्य का प्रारम्भ भी हो जायेगा। ऐसा सोचकर उन्होंने उस तामसी भगवती योगनिद्रा की स्तुति करना प्रारम्भ किया जो तमोगुण प्रधान होने के कारण महाकाली ही है।

नाभिकमले विष्णोः—प्रलय होने पर भी अग्रिमसृष्टि का बीज तत्त्व अवशिष्ट रहता है। इसका विनाश नहीं होता है। एकमात्र इसके शेष रहने के कारण इसे शेष कहते हैं। कितने प्रकार से यह व्यक्त होता है, इसकी इयत्ता नहीं है। अतः यह शेष ही अनन्त भी कहलाता है। शेष ही विकसित होकर सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर लेता है। अतः वे वेष्टि व्याप्नोति विश्वम् ऐसी व्युत्पत्ति के अनुसार उसी का दूसरा नाम विष्णु होता है। सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त इस तत्व का प्रस्फुटन जिस केन्द्रविन्दु से होता है, वही उसकी नाभि है। जल से निकलने वाली वस्तुओं में जल से निर्लिप्त होकर विकसित होने वाला कमल होता है। अतः विष्णु की नाभि कमल मानी जाती है अथवा विष्णु की नाभि को भी कमल कहते हैं। इसी कमल तत्त्व के आविर्भाव के बाद ही सृष्टि का प्रथम स्वरूप, किंवा, सृष्टि प्रवर्तक उत्पन्न होता है। इसलिए उसे अनुदिन बढ़ने के कारण 'वृंहति वर्द्धते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म कहा कहा जाता है एवं जो सृष्टि का नियन्ता होने के कारण प्रजापति भी कहा जाता है।

असुरौ चोग्रौ—त्रिगुणात्मिका सृष्टि का यह नियम है कि दो विरोधी भाव साथ ही उत्पन्न होते ही हैं। यदि सृष्टि का उत्पादक उत्पन्न होगा तो उसका विनाशक भी साथ उत्पन्न होगा। यदि पुण्य होगा तो पाप भी रहेगा। यदि दिन होगा तो रात्रि भी रहेगी। फलतः जिस क्षण ब्रह्मा का सृष्ट्यर्थं जागरण हुआ उसी क्षण उनके नियम के विघातक भी उत्पन्न हो गये। विघातक तत्त्व अधिक होता है, इसी नियम के अनुसार जहाँ एक ब्रह्मा दृष्टि-गोचर होते हैं वहां विघातक दो दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं, सहजधर्म के अनुसार वे सृष्टि बिनाश के लिए उग्र भी हो जाते हैं। यहां यह भी जानना चाहिये कि उनकी भी अभिव्यक्ति उसी विष्णु के अङ्गमल से होती है, जिस

विष्णु के अङ्गविशेष पर ब्रह्मा का प्राकट्य होता है। यह विरोधी तत्त्व इतना प्रबल है कि उसमें से एक को मधु नाम से पुकारा जाता है। मधु कहते ही उसे हैं जो अपने को अत्यन्त शूर समझे—मन्यते अहमेव शूरः इति मधुः। मन ज्ञाने धातु से फलि......... (उ० १/१८) से धुअन्तादेश होता है। दूसरा इतना विकृत होता है कि उसे कैटभ कहा जाता है। क्योंकि वह कर्णमल से उत्पन्न होता ही है—कीटस्येव या प्रभा यस्य तत् कीटभम् कर्णजं मलं तत्र भवः कैटभः।

जनार्दनः—प्रबुद्ध विष्णु तत्त्व ही जनार्दन पद वाच्य होता है। सर्वत्र कायम होने के कारण जनों के निकटतम होने के कारण 'जनान् अर्दति गच्छति' इस व्युत्पत्ति से वह जनार्दन कहलाता है। अथवा सृष्टि विघातकों का विनाशक होने के कारण भी उसे जनार्दन कहते हैं—जनान् अर्दयति हिनस्ति इति जनार्दनः।

योगनिद्रा—तामसी भगवती का वह रूप योगनिद्रा है, जो मोहिका होती है। इसी से विष्णु भी आक्रान्त होते हैं। प्रकारान्तर से यही मधु कैटभ की उत्पादिका तथा नाशायित्री भी है।

एकाग्रहृदयस्थितः—यहां दो पद हैं। एकाग्रहृदयः + स्थितः। शर्पर खर् रहने के कारण हृदयः के विसर्ग का लोप हो जाता है। इसलिए यहां अर्थ किया जाता है कि एकाग्रम् अनवच्छिन्नं हृदयं यस्य सः एकाग्रहृदयः ब्रह्मा स्थितः सन् अर्थात् एकाग्रहृदय हुये ब्रह्मा।

कुछ टीकाकारों ने दूसरी भी व्युत्पत्ति सुझाई है। एकाग्रहृत् एकाग्रहृदयः—ब्रह्माअये-दैत्यवघे जगत्पालनरूपे शुभविधौ स्थितः दत्तावधानः सन् अर्थात् दैत्य वधरूप शुभविधि में एकाग्रहृदय हुये ब्रह्मा।

विबोधनार्थाय—हरि को जगाने के लिए अर्थात् पालन व्यवहार में उनकी प्रवृत्ति के लिए। हरेर्नेत्रयोः कृतः आलयः यया ताम्—

हरिनेत्रकृतालयाम्—(क) हरि के नेत्र में स्थान बनाने वाली योगनिद्रा

(ख) हरिणा नेत्राभ्यां कृतः आलयः यस्या ताम्—हरि ने ही आखों से जिसका आलय बना दिया है वह योगनिद्रा रूप दो व्युत्पत्तियों से सिद्ध होता है कि हरि के नेत्र को योगनिद्रा ने आक्रान्त कर लिया था अथवा हरि ने स्वतः ही उसे आश्रय दे रखा था।

विशेष—(क) निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः के स्थान पर

'स्तौमि निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलतेजसः' पाठ मिलता है। ऐसे स्थल पर 'ब्रह्मोवाच' मन्त्र का पाठ करके तब 'विश्वेश्वरी' श्लोक आता है पर यह पाठ कात्यायनी तन्त्र सम्मत नहीं है।

(ख) तेजसः प्रभुः–अति तेजस्वी ब्रह्मा अथवा तेजसः विष्णोः निद्रा-तेजस्वी विष्णु की निद्रा रूप दोनों प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं पर वाक्य सन्दर्भ प्रथम प्रकार के अर्थ को विशेष मान्यता देता है।

(ग) भगवती के सभी विशेषण जो यहाँ प्रयुक्त हुये हैं उन्हे साक्षात् ब्रह्म रूपा सिद्ध करते हैं। वह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करती है।

(घ) 'विष्णु की निद्रा' इस पद से यह सन्देह होता है कि ब्रह्मरूपा भगवती यदि विष्णु की निद्रा है तो विष्णु के अधीन रहने वाली होंगी। इसी से षष्ठी विभक्ति हुई है। इसका उत्तर है कि जिस प्रकार राहु का शिर राहु से भिन्न नहीं होता है तथा वहाँ 'राहोः शिरः' ऐसी षष्ठी होती है उसी प्रकार यहाँ भी विष्णोः निद्रा ऐसी षष्ठी होती है। पर उसका वास्तविक अर्थ है कि विष्णु ही निद्रा रूप महामाया हैं और ब्रह्मा ने विष्णुरूपा निद्रा की ही स्तुति किया। प्रकारान्तर से सर्वेश्वर ब्रह्मा ने लोक दृष्टि से अपने को मोहित जैसा दिखाते हुये लोक के मार्गदर्शनार्थ भगवती की स्तुति किया, किं वा, अपने ही अपनी स्तुति किया और स्तुति के द्वारा भगवती का आविर्भाव रूप अनुभव होता है ऐसा प्रतिपादित किया।

ब्रह्मोवाच

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ॥५४॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ।५४ क॥
अर्द्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।५५॥
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवि जननी परा ॥५५ क॥

ब्रह्मा ने कहा—देवि योगनिद्रे तुम स्वाहा स्वधा तथा वषट्कार हो क्योंकि तुम स्वरात्मिका हो। तुम सुधा हो। हे अक्षरे! हे नित्ये! तुम तीन मात्रा वाली होती हो। विशेष रूप से जिसका उच्चारण नहीं हो सकता हैं वह नित्य अर्द्धमात्रा स्वरूपा तुम ही हो। तुम सावित्री हो तथा सबको उत्पन्न करने वाली परा हो।

जिस समय ब्रह्मा ने स्तुति प्रारम्भ किया उस समय चारों ओर जल ही जल था। शेषशायी विष्णु के नाभिकमल पर ब्रह्मा आसीन थे तथा कमल दण्ड

पर मधु कैटभ थे। ऐसी स्थिति में ब्रह्मा के पास पूजा के साधन में केवल वाणी ही अवशिष्ट थी अतः उन्होंने वाणी से स्तुति किया। यह वाणी-वाक् कोई दूसरी वस्तु तो है नहीं। भगवती का रूप ही तो है। ब्रह्मा अनुभवी थे। पहले सृष्टि करके अर्थजात को उत्पन्न कर चुके थे। पर आज वह अशेष अर्थ शेष बन चुका था। उस शेष के आधार पर आश्रित योगनिद्राग्रस्त विष्णु के अङ्गोद्भूत कमल के एक स्थान पर अपने को तथा दूसरे स्थान पर मधुकैटभ को देखकर सर्वप्रथम उनकी वाणी प्रस्फुटित हुई। इससे उन्होंने माना कि यह योगनिद्रा वाक् स्वरूपा ही है। क्योंकि यही अब तक है, नित्य दिखाई दे रही है। इसी के उच्चारण से शेषशायी की निद्रा हट सकती है। साथ ही उन्होंने अशेष अर्थजातों को भी उत्पन्न करके देखा था। तो वे अर्थजात भी तो पारिशेष्यात् वाक् ही हैं। इसलिए उन्होंने स्तुति इस प्रकार से करना प्रारम्भ किया, जिससे भगवती का स्वरूप तथा कार्य दोनों की प्रशंसा भी हो जाय तथा स्तुति भी वस्तु परक हो।

(१) 'भगवती वाक्‌रूपा हैं' इसको स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं कि—तुम स्वाहा आदि हो। स्वाहा शब्द का उच्चारण करके देवों को हवि दी जाती है। देवों को नित्य तृप्त करने वाला मन्त्ररूप स्वाहाशब्द भगवती का ही रूप है। इसी प्रकार पितरों को नित्य तृप्त करने वाला मन्त्ररूप स्वधा शब्द भी भगवती का ही रूप है। इसी आधार पर पूरा वषट्कार अर्थात यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला मन्त्र भी भगवती का ही रूप है। ऐसा इसलिए है कि भगवती स्वयं स्वररूपा ही हैं। स्वरों के साथ लगने वाले अनुस्वार आदि भी भगवती रूप ही हैं।

यहाँ ब्रह्मा कहते हैं कि—हे अक्षरे—वृद्धिह्रास परिणाम से हीन, हे नित्ये—सदा रहने वाली—तुम ही स्वरानुस्वार रूप मन्त्ररूपा हो। इस प्रकार तुम तीन मात्रा वाली हो। साथ ही वह भी हो जिसका उच्चारण विशेषतः स्वर के बिना नहीं हो सकता है तथा जिसकी आधी मात्रा मानी जाती है अर्थात् तुम व्यञ्जन स्वरूप भी हो। यह सब तुम ही हो। तुम ही स्वरानुस्वारव्यञ्जन समष्टि मन्त्ररूपा हो, एतावता सर्वमन्त्रप्रधान सावित्री—गायत्री—ऋक् भी तुम ही हो। इतना कहने के बाद ब्रह्मा ने पूरे विषय को स्पष्ट करते हुये कहा कि मां। अधिक क्या कहूँ—वस्तुतः तुम ही सबकी जननी परा वाक् हो।

(२) भगवती ही अर्थरूपा भी हैं। इसको भी इसी स्तुति में स्पष्ट करते हुये देवयोनि ब्रह्मा कहते हैं कि 'मां तुम स्वाहा आदि' हो।

देवों को हवि पहुँचाने वाले अग्नि की पत्नी स्वाहा तुम ही हो। तृप्ति स्वरूपा तथा तृप्ति प्रदात्री वस्तुतः तुम हो। इतना ही नहीं, तुम यज्ञ और

स्वर्ग भी हो। अमृत भी तुम ही हो। हे विपरिणामविरहिते नित्ये प्राण्य-प्राण्यात्मक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं नाश की कर्त्री ब्राह्मी लक्ष्मी शैवी रूप तीनों माताओं का स्वरूप तुम से अभिन्न है। अधिक क्या कहूं इन तीनों माताओं की समष्टिरूपा जो अव्यक्ता, अकथ्या तुरीया माता होती है जो दुरधिगमा निःसीममहिमा परब्रह्म महिषी है वह भी तुम ही हो। तुम ही सबकी प्रेरयित्री सावित्री हो। दूसरा आशय है कि देवि! तुम ही परा जननी हो। अशेष पुम्भाव रूप तथा जगदुपादान का धर्म स्वरूप तुम ही हो, जिसे विमर्श, चिति, चैतन्य, आत्मा, स्वरसोदिता परावाक् कहते हैं तथा जिसे ही स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, सत्तत्व, सत्ता, स्फुरत्ता, सार, मातृका, मालिनी, हृदयमूर्ति, स्वसंवित् स्पन्द आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है।

स्वाहा-देवों के उद्देश्य से हविर्दान में स्वाहा अव्यय का प्रयोग होता है। सिद्धान्त है कि—

विषहीनो यथा सर्पो वेदहीनो यथा द्विजः
पतिसेवाविहीना स्त्री विद्याहीनो यथा नरः।
फलशाखा विहीनश्च यथा वृक्षो हि निन्दितः
स्वाहाहीनस्तथा मन्त्रो न द्रुतं फलदायकः॥

(ब्र० वै० पु० खं ७/४३–४४)

पुराण प्रयुक्त अर्थ भाषा में ब्रह्मा की पुत्री तथा वह्नि की पत्नी का नाम स्वाहा है वह्नि और स्वाहा से दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयाग्नि नामक तीन अग्नि उत्पन्न हुये हैं।

स्वान् आजिहीते इति स्वाहा व्युत्पत्ति के अनुसार स्वाहा अनव्यय भी है। इसीलिए नमः स्वाहायै का भी प्रयोग सप्तशती में किया गया है।

स्वधा–पितरों के उद्देश्य से पिण्डदानादि में स्वधा अव्यय का प्रयोग होता है। पौराणिक भाषा में ब्रह्म की मानस पुत्री स्वधा पितृदेव की भार्या है। श्राद्ध में पितृपिण्डदान के समय स्वधा शब्दोच्चारण अत्यन्त आवश्यक है। सिद्धान्त है कि—

स्वधोच्चारणमात्रेण तीर्थस्नायी भवेन्नरः।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो वाजपेयफलं लभेत्॥
स्वधा स्वधा स्वधेत्येवं यदि वारत्रयंस्मरेत्।
श्राद्धस्य फलमाप्नोति बलेश्च तर्पणस्य च॥

(ब्र० वै० पु० खं० ७, ४१वां अध्याय)

स्वान् धत्ते इति स्वधा व्युत्पत्ति के अनुसार स्वधा अनव्यय भी है। अतः नमः स्वधायै का प्रयोग सप्तशती में किया गया है।

वषट्कारः-वषट् क्रियते यत्र स वषट्कारः इस व्युत्पत्ति से वषट्कार यज्ञ को कहते हैं। देवहविर्दान में वषट् का भी प्रयोग होता है। यहां शब्दपरक अर्थ में वषट्कार. का भाव यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला मन्त्र होता है तथा अर्थपरक पक्ष में यज्ञ होता है। वषट्कार का अर्थ यज्ञकर्ता यजमान भी होता है। कालिदास ने भगवान् की अष्टमूर्तियों में होत्री का सन्निवेश किया है।

स्वरात्मिका मूल स्वर अ, इ, उ, ऋ तथा लृ भेद से ५ प्रकार का होता है। इनके सम्मेलन से ए ओ ऐ औ रूप ४ स्वर होते हैं। इन्हें मिलाकर ६ स्वर होते हैं, जिसकी चर्चा व्याकरण के माहेश्वर सूत्रों में हैं तथा ये निरनुनासिक होते हैं। स्वयं राजन्त इति स्वराः व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त स्वर भगवती वाक् का ही विजृम्भण है।

स्वर् शब्द का अर्थ स्वर्ग भी होता है। अतः स्वर्गात्मिका भगवती ही बनती है। कुछ टीकाकारों ने निषादादि रूप सङ्गीत सम्मत स्वरूपा माना है।

सुधा-सुधा का तात्पर्य अमृत से है। इसलिए अर्थपक्ष में जब भगवती स्वर्ग रूपा सिद्ध होती है तो सुधा रूप भी उन्हें ही होना है। परन्तु शब्द पक्ष में थोड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। टीकाकारों ने स्वर से १६ स्वर समझा है तथा आगे चलकर मात्रा रूप में भगवती को मानकर ह्रस्व दीर्घप्लुत रूपा माना है। ह्रस्व दीर्घरुपेण जब स्वरों का परिगणन हो ही जायेगा तो केवल प्लुत के लिए मात्रा का ह्रस्व दीर्घप्लुत अर्थ असंगत होगा। साथ ही वैय्याकरण जानते हैं कि व्यञ्जन तथा स्वरों से अतिरिक्त भी कुछ होता है, जिसे उनकी भाषा में अयोगवाह कहते हैं। उन अयोगवाहों के उपलक्षण के लिए यहां सुधा शब्द का प्रयोग किया गया है। सुधा का तात्पर्य अनुस्वार आदि से है। अनुस्वार है ही ऐसा, कि, न वह स्वर है और न व्यञ्जन पर स्वर के साथ रहता है। साथ ही तन्त्र की भाषा में अनुस्वार को सुधा कहते भी हैं। (द्रष्टव्य—वर्णबीजप्रकाश) प्रकारान्तर से सुधा का अर्थ सानुनासिक स्वर भी हो सकता है।

अक्षर—अक्षरा का सम्बोधनान्त एक वचन रूप अक्षरे है। जिसका क्षरण न हो उसे अक्षर कहते हैं। क्षर से उपचय अपचय तथा परिणाम समझा जाता है। जिसमें यह तीनों न हो उसे अक्षर कहते हैं। परब्रह्म एवं उसकी शक्ति परब्रह्ममहिषी तो अक्षर रूपा ही हैं। पर इन वर्णों को भी जिनमें गुण

वृद्धि लोपादि होते हैं—हम अक्षर इसलिए कहते हैं क्योंकि स्थिति प्रवृति निवृति विभाग आदि को शब्दों के द्वारा ही बताया जा सकता है। इसलिए अक्षरनिमित्त होने के कारण वर्ण भी अक्षर हैं। इसी भाव को श्रुति निम्न शब्दों में कहती है—

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्
उतान्येविदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्

इसी भाव को हृदय में रखकर भगवान् भर्तृहरि ने लिखा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। (वा० प० १/१)

नित्ये—अनादिनिधन का पर्याय नित्य है। भगवती का न तो आदि है और न अन्त। यह सम्बोधनान्त पद है।

त्रिधामात्रात्मिकास्थिता—शब्द पक्ष में स्वरों में होने वाली तीनों मात्रायें भी देवीरूपा ही हैं। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत अथवा उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित रूप तीन मात्रायें होती हैं। कुछ टीकाकारों ने ब्रह्मार्थवाचक ॐ पद की अ + उ + म् रूप तीन मात्रा में भी अर्थ किया है। अर्थ पक्ष में-'त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः ब्राह्मी वैष्णवी माहेश्वरी रूपाः मातरः आत्मा स्वरूपं यस्याः सा त्रिशक्त्याकृतिः त्रिधा मात्रात्मिका' व्युत्पत्ति के अनुसार ब्राह्मी वैष्णवी माहेश्वरी रूपा तुम ही हो। अर्थ किया जाता है।

अर्द्धमात्रास्थिता—व्यञ्जनं चार्द्धमात्रिकम् के अनुसार व्यञ्जन की अर्द्धमात्रा मानी जाती है तथा स्वरों की सहायता के बिना उनका उच्चारण नहीं हो सकता है। इसीलिए यहां अर्थ किया जाता है—विशेषतः या अनुच्चार्या अर्द्धमात्रा तत्स्वरूपेण स्थिता नित्या त्वमेव अर्थात् जिसका उच्चारण विशेषतः स्वर के बिना नहीं हो सकता तथा जिसकी अर्द्धमात्रा मानी जाती है वह व्यञ्जन स्वरूप तुम ही हो।

अर्थपक्ष में इसका अर्थ तुरीया माता किया जाता है, जो ब्राह्मी वैष्णवी तथा माहेश्वरी की समष्टिरूपा अव्यक्ता अकथ्या परब्रह्म महिषी है। ऐसा अर्थ करने का हेतु है अनुच्चार्या पद। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह के अनुसार परमात्म रूपा भगवती अनुच्चार्या हैं। तथा भगवती के

इस रूप की ओर सौन्दर्य लहरी में भगवान् शङ्कराचार्य ने निम्न शब्दों में ध्यान दिलाया है—

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्
तुरीया कापित्वं दुरधिगमनिः सीममहिमा
महामाये विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषी ॥ (सौंदर्य लहरी)

इसीलिए शान्तनवीकार ने इस पक्ष में यह व्युत्पत्ति उपस्थित किया है—"वदेः क्विप् । वदतीति उत् वाचकः शब्दः । न विद्यते उत् वाचकः शब्दः यस्याः सा नुत् 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः चरितुं गन्तुं प्राप्तुमर्हाचार्या । अनुच्च सा चार्या च अनुच्चार्या परब्रह्मता सा त्वमेव" . इस अनुच्चार्या पद के साथ अर्द्धमात्रास्थिता पद भी कहा गया है । 'जो अनुच्चार्या है वही अर्द्धमात्रात्मिका भी है' इसमें प्रमाण नागेश भट्ट ने दिया है— अर्द्धमात्रा तु वेदान्तवाक्यार्थभूतानित्यमुक्तरुपतुरीयाभिधेया । तदुक्तम् व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा द्वितीयाऽव्यक्त संज्ञिता । मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्द्धमात्रा परं पदम्' इति । वस्तुतः जो अर्द्धमात्रा है वह वाग्गोचर होती ही नहीं है ।

अनुच्चार्या—गुप्तवती

सावित्री—तत्सवितुः......रुप गायित्री मन्त्र को ही सावित्री यन्त्र भी कहा जाता है । गायते त्रायते इति- गायत्री व्युत्पत्ति के अनुसार यह भी अर्थ निकलता है कि तुम्हारी स्तुति हो तुम रक्षा करती हो । तौदादिक षू प्रेरणे धातु से सविता पद बनता है उस सविता की प्रेरयित्री शक्ति सावित्री कहलाती है ।

परा—वाणी के चतुर्विध भेदों में सर्वोत्कृष्ट परा वाक् कहलाती है । सम्पूर्ण विश्व का उपादान एवं निमित्तकारण यही परा वाक् होती है । निराधार स्वाधार शब्दब्रह्म ही परावाक् कहलाता है । इसीलिए कहा जाता है –

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।
आद्यमन्तेन संयोगादहमित्येव जायते ॥
इकारादि हकारान्ता वर्णाः समभवंस्ततः ।
सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत् ॥ (नन्दिकेश्वर काशिका)

स्वरुपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी ।
तस्यां दृष्टस्वरुपायामधिकारो निवर्तते ॥ (महाभारत)

अर्थ पक्ष में परा का अर्थ उत्कृष्टा होता है। परा जननी का तात्पर्य उत्कृष्टा जननी से है। यह उत्कर्ष ही धर्मरूप है।

विशेष—(क) त्रिधामात्रात्मिका पद में टीकाकारों ने अपने बुद्धिकौशल से कुछ निम्न अर्थ भी दिये हैं। यथा त्रिधामा+त्रात्मिका। देवि तुम त्रिधामा हो तुम्हारे तीन धाम अर्थात् गृह हैं। यह त्रिभुवन ही त्रिधाम है। इसमें तुम ही रहती हो अतः त्रिधामा हो। अथवा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ही त्रिधाम हैं। इनमें ब्राह्मी वैष्णवी तथा माहेश्वरी रूप में तुम ही रहती हो अतः त्रिधामा हो अथवा चन्द्र, सूर्य और अग्नि में प्रकाशिका शक्ति तुम ही हो अतः त्रिधामा हो त्रीणि धामानि यस्या सात्रि धामा।

पालनार्थक त्रैङ् धातु से क्विप् प्रत्ययान्त

त्रात्मिका—त्रायते इति त्राः व्युत्पत्ति से विष्णु का अर्थ त्रा होता है। त्राः आत्मा स्वभावो यस्याः सा त्रात्मिका अर्थात् पालिका विष्णुरूपा योगानिद्रा हो। अथवा स्वयम् पालनरुपा हो। क्योंकि त्रैङ् से भाव में क्विप् करने पर त्राणं त्राः पालनम् आत्मा स्वरूपं यस्याः सा ऐसी भी व्युत्पत्ति बनती है।

(ख) कुछ दाक्षिणात्य पाठ में 'त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा' पाठ मिलता है वहाँ सन्ध्या का अर्थ का लविशेष अथवा 'संध्या पितृपप्रसूः' के अनुसार पितरों की माता को भी संध्या कहते हैं।

(ग) 'त्वं देवि जननी परा' के स्थान पर कहीं कहीं 'त्वं वेदजननी परा' पाठ मिलता है वहाँ अर्थ करना पड़ता है कि देवि तुम वेदों की जननी साविची अर्थात् गायत्री हो। कहीं कहीं 'त्वं देवजननी परा पाठ भी मिलता है। वहाँ अदितिरुपा अर्थ होता है। 'वेदजननीपरा' पक्ष में शान्तनवीकार ने एक विचित्र अर्थ भी किया है, जिसके अनुसार योगनिद्रा को ब्रह्मा की रक्षा करनी ही पड़ेगी, ऐसा भाव निकलता है। व्युत्पत्ति है—वेदजननीं गायत्रीं पाति इति वेदजननीपाः गायत्री की रक्षा करने वाला ब्रह्मा, वेदजननीपां रक्षितुं रासि गृह्णासि इति वेदजननीपरा अर्थात् उस ब्रह्मा को रक्षार्थ अपनाने वाली वेदजननीपरा होगी ही।

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥५६॥
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा ॥५६ क॥

हे देवि ! यह सम्पूर्ण संसार तुम्हारे द्वारा धारण किया जाता है। तुम्हारे द्वारा ही उत्पन्न तथा पालित किया जाता है तथा अन्त में तुम इसे आत्मसात् कर लेती हो।

भगवती महामाया के स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर ब्रह्मा उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों को बताते हुए कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं महामाया से धृत, सृष्ट, पालित तथा नाशित होता है। शान्तनवीकार ने पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम को प्रधानता देते हुये 'जगत् महामाया के द्वारा सृष्ट पालित नाशित तथा धृत होता है' ऐसा अर्थ किया है। पर इससे कुछ वैचित्र्य नहीं उत्पन्न हो रहा है। क्योंकि नाशित करने के बाद अग्रिम सृष्टि के लिए उसे धृत करना ही पड़ेगा। तब धृत सृष्ट पालित तथा नाशित में कोई अन्तर नहीं आ रहा है। इतना अवश्य है कि ब्राह्मी शक्ति के द्वारा जगत् सृष्ट होता है। वैष्णवी शक्ति के द्वारा यह पालित होता है तथा माहेश्वरी शक्ति के द्वारा नाशित होता है पर यह धृत उस शक्ति के द्वारा होता है, जो इन तीनों शक्तियों का भी मूल स्रोत अर्थात् तुरीया शक्ति है, जिसे महामाया कहते हैं तथा जो ब्रह्मरुपा है।

इस श्लोक में अन्ते पद आया है, जिसका अर्थ होता है प्रलय काल में। साथ ही अत्सि का अर्थ होता है खाती हो। खाती हो का तात्पर्य है—अपने में मिला लेती हो।

विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥५७॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये ॥५७ क॥

हे जगन्मये ! इस जगत् के विसृष्टि में सृष्टिरूपा, पालन में स्थितिरूपा तथा अन्त में संहृतिरूपा तुम (हीं हो)।

ऊपर के श्लोक में ब्रह्मा ने भगवती का कर्तव्य रूप बताया है। वह ही धारण, सर्जन, पालन तथा नाश करने वाली है। इस श्लोक में वे भगवती का क्रियात्व बता रहे हैं। सप्तम्यन्त विसृष्टौ पालने तथा अन्ते पद का अर्थ लक्षणया काल परक होता है। फलतः अर्थ होता है कि उत्पादन काल में भगवती ही सृष्टिरूपा हैं अर्थात सृज्य वस्तु रूपा तथ सृष्टि क्रिया दोनों ही वही हैं। इसी प्रकार प्रलय काल में संहृतिरूपा अर्थात् संहार्य वस्तु एवं संहार क्रिया दोनों ही वही हैं। इसीलिए ब्रह्मा ने सम्बोधन दिया है 'जगन्मये'। जगन्मयि के स्थान पर जगन्मये पाठ आर्षप्रयोग है, इसीजिए ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। फलतः जगन्मयी का अर्थ ही होता है जगद्रूपा। विश्व का कर्तृत्व कर्मत्व तथा क्रियात्व तीनों ही भगवती रूप ही हैं। जगत् को उत्पादिका, पालिका तथा नाशिका वही हैं, इससे उसका कर्तव्य ज्ञात होता है। उत्पादन, पालन तथा

संहार की क्रिया अर्थात् व्यापार भी वही हैं इससे क्रियात्व ज्ञात होता है तथा बना हुआ कर्म जगत् भी वही हैं इससे कर्मत्व ज्ञात होता है। इस कर्मत्व को बताने के लिए ही जगन्मयी शब्द प्रयुक्त हुआ है। ङीप् के अभाव को आर्ष न मानने वाले लोग जगन्मया शब्द को मानकर मय गतौ धातु से पचाद्यच् तथा टाप् करके जगन्मया बनाते हैं तथा अर्थ करते हैं—हे जगत् को जानने वाली। पर यह अर्थ वहुत सङ्गत नहीं है। इसीलिए नागेश भट्ट ने लिखा है—जगद्रूपे इत्यर्थकम्। जगन्मये इत्यत्र छान्दसत्वात् ङीबभाव: सिद्धान्त पक्ष में ब्रह्मरूपा भगवती में कर्तृत्व कर्मत्व तथा क्रियात्व का पर्यवसान करना ही पड़ेगा। व्यावहारिकी दृष्टि से उसमें कर्तृत्व सिद्ध ही है तथा वैज्ञानिक दृष्टि से क्रियात्व स्वयं सिद्ध है। पर उस भगवती से ही उत्पन्न ब्रह्मा इस स्तुति को कह रहे हैं, जिस पर जगत् के कर्तृत्व का भार सौंपा गया है इससे सिद्ध है कि ब्रह्मा वस्तु का ठीक से निभालन करके अपनी नम्रता द्योतित कर रहे हैं तथा जगत् में व्यावहारिक कर्तृत्व का अरोप कर रहे हैं।

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥ ५८ ॥
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ॥ ५८ क ॥

(हे जगन्मये!) आप महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति महामोहा, महादेवी तथा महासुरी हैं।

ऊपर के दोनों श्लोकों में ब्रह्मा ने विष्णु की योगनिद्रा को जगत् की कर्त्री, कर्म तथा क्रियारूप माना है। पर इससे उनका स्वरूप पूरा स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। कर्तृत्वेन उनके रूप का पता हम लगा नहीं पाते हैं। क्रियात्वेन भी उनके वपु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है, क्योंकि क्रिया स्वरूपतः ज्ञात होती ही नहीं है। पारिशेष्यात् कर्ममुखेन अर्थात् फलमुख से जानने का प्रयत्न किया जा सकता है। पर कर्म जगत् इतना विस्तृत है कि वह सम्पूर्णतः ज्ञान का विषय एककालावच्छेदेन हो नहीं सकता है। लेकिन जगत् में दृष्ट प्रवृत्तियाँ सर्वत्र सामान्य होती हैं। अतः यदि प्रवृत्तियां जान लें तो जगत् जाना जा सकता है। प्रवृत्तियां भी सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्म एवं स्थूलतम, स्थूलतर तथा स्थूल होती हैं। इसी क्रम को ध्यान में रखकर ब्रह्मा ने भगवती को क्रमशः ६ श्लोकों में वर्णित किया है। जिसका प्रथम श्लोक यह महाविद्या........ आदि है।

हम सभी अनुभव करते हैं कि, है कोई ऐसी शक्ति अवश्य, जिससे हम ज्ञानवान् होते हैं तथा उसी शक्ति को हम विद्या कहते हैं। साथ ही उस ज्ञान के

अभाव से जब कोई ग्रस्त हो जाता है तो हम कहने लगते हैं कि वह अविद्या या मायाग्रस्त हो गया है। ऋषि मेधा ने श्लोक सं० ४२ से ४५ के मध्य इस पर स्वयं प्रकाश डाला है। व्यष्टिगत विद्या तथा अविद्या से जब हम समष्टि के रूप में देखना प्रारम्भ कर दें तो उसे महाविद्या तथा महामाया कहना ही पड़ेगा। इसी प्रकार व्यष्टिगत मेधा, स्मृति, मोह, देवत्व तथा असुरत्व रूप शक्ति को समष्टिगत रूप में कहें तो उसे महामेधा महास्मृति महादेवी तथा महासुरी कहेंगे। यही समष्टिगत शक्ति अपने कार्यों के कारण भिन्न-भिन्न नाम धारण करती है पर वह एक ही है तथा उसका अपलाप भी नहीं हो सकता है अतः पद दिया गया है–भवती। भवती के दो अर्थ होते हैं—१. आप तथा २. वर्तमाना–अस्तित्वरूपा। इन रूपों में भगवती का अस्तित्व सदा वर्तमान रहता है।

पूर्व श्लोकों में ऋषि मेधा ने जो कुछ कहा था उसका भी स्रोत ब्रह्मा की यह स्तुति ही है। वहां केवल महामाया पद ही विशेषतः विवृत हुआ है। पर यहां उसे सम्पूर्ण रूप में दिखाया गया है तथा सबका पर्यवसान भी एक ही अर्थ में होता है।

महाविद्या–ब्रह्मा कह रहे हैं कि सदावस्थित मां तुम समष्टिगत सूक्ष्मतम शक्तिस्वरूपा हो। अतः तुममें महापद जोड़ना पड़ेगा ही। व्यष्टिगत रूप में तुम्हारी इन शक्तियों को क्रमशः विद्या, माया मेधा, स्मृति, मोह देवत्व तथा असुरत्व कहा जाता है। इनके द्वारा ही प्रवृत्तियों का सञ्चालन होता है तथा यही प्रवृत्तियां भी हैं। विद्या के दो भेद होते हैं। १. परा तथा २. अपरा। जिससे अक्षर ब्रह्म का अवगम हो वह परा विद्या तथा जिससे अक्षर निमित्त अक्षरों का बोध हो उसे अपरा विद्या। सारांशतः महावाक्यलक्षणश्रुतिवचन तथा तत्प्रतिपाद्य विद्या रूप मां भगवती ही है। साथ ही अध्ययनाध्यापनरूपा ऋग्वेदादि लक्षणा भी विद्या है।

महामाया—महामाया पद का निरूपण ४२वें श्लोक में ही हो चुका है। वहाँ माया के दो भेद विद्या तथा अविद्या करके महाविद्या भी महामाया तथा महाअविद्या भी महामाया कहा जा चुका है। पर यहाँ सुगमतः दोनों पद भिन्न स्थान पर दिखाये गये हैं अतः यहाँ महामाया का तात्पर्य महाअविद्या से है। अन्यत्रान्याकारावभासिनी सर्वविषया माया शक्ति महामाया कहलाती है। इसका कार्य है सत् चित् तथा आनन्द रूप आत्मा में संसारित्वरूप अनर्थविभास कराना। इस विसदृश प्रतीति का साधन यह माया ही है।

महामेधा—मेधा बुद्धि को कहते हैं। बुद्धि की व्याख्या दार्शनिकों ने अनेक प्रकार से की है। पर सामान्यतः वस्तु को अवधारण कराने वाली शक्ति ही बुद्धि कही जाती है। यह प्रत्येक व्यक्ति में देखी जाती है। जब यही धी शक्ति समष्टिरूप में गृहीत होगी तो उसे महामेधा कहते हैं। भगवती महामेधा हैं ही अर्थात् सर्वज्ञत्वशक्तिरूपा हैं।

महास्मृति—बुद्ध्या गृहीत वस्तु को पुनः कारण सामग्री के अभाव में भी जब हम जिस शक्ति से जानते हैं उसे स्मृति कहते हैं। यह स्मृति ही पुनः प्रवृत्ति में सुलभ कारण बनती है। सृष्टिकाल में जगत् की पुनः प्रवृत्ति तथा संहृतिकाल में संहृति एवं प्रवृत्ति संहृति का यह क्रम जिस स्मृति का विषय बनता है वह स्मृति महास्मृति है तथा भगवती तद्रूपा ही हैं।

स्मृति शब्द का दूसरा अर्थ श्रुति तथा उसकी अनुगामिनी स्मृति (धर्मशास्त्र) भी होता है। अतः महा स्मृति का अर्थ वेदविद्या भी किया जाता है।

महामोहा—सुरथ ने 'ज्ञानी को मोह कैसे होता है', यह पूछा था। ऋषि ने इसे महामाया का कार्य बताया था। यहाँ ब्रह्मा महामाया पद से मोहदात्री माँ योगनिद्रा का स्तुति कर चुके हैं। फिर भी उन्हें महामोहा कह रहे हैं। कारण को कार्य रूप में उपस्थित कर रहे हैं। इसमें हेतु है विषय को सुस्पष्ट करना। उदाहरणार्थ—जल से ही बर्फ बनता है या घनीभूत जल ही बर्फ होता है। यदि कोई बर्फ मांगे तो हम उसके सामने जल नहीं उपस्थित कर सकते हैं। व्यवहारतः इस प्रकार कारण तथा कार्य में भेद हो जाता है। मोह का अर्थ ही है ममता। जिन कारणों से ममता उत्पन्न होती है उन कारणों को भी ममता कहा जाता है। इस प्रकार भगवती को मूल कारण रागरूप मोहस्वरूपा कहना उचित है।

महादेवी—देवशक्ति को देवी कहते हैं। सम्पूर्ण देवों में रहने वाली शक्ति को समष्टि रूप में महादेवी कहना उचित ही है।

महासुरी—महा + आसुरी = महासुरी। असुरों में भी रहने वाली समस्त शक्ति का एकीकृत रूप महासुरी कहलाती है तथा यह भी भगवती का रूप है। अशेष शक्ति प्रवृत्ति की समष्टि ही भगवती हैं। यह भगवती का सूक्ष्मतम रूप है।

प्रकृतिस्त्वं हि सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥ ५९ ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ॥ ५९ क ॥

(हे योगनिद्रे !) तुम सबकी प्रकृति हो क्योंकि तीनों गुणों की विभाविनी हो। तथा (तुम ही) दारुण कालरात्रि, महारात्रि एवं मोहरात्रि हो।

भगवती के सूक्ष्मतम रूप को बताने के बाद उनके सूक्ष्मतर रूप की ओर ब्रह्मा का जब ध्यान गया तो उन्होंने कहा—मां तुम सबकी प्रकृति हो। यहां प्रकृति शब्द से मूल कारण गृहीत है। जब सत्त्व, रजस् तथा तमस् साम्यावस्था में रहते हैं तब सृष्टि अवरुद्ध रहती है। जब उनमें वैषम्य होता है तब ही सृष्टि होती है। पुनः कुछ काल तक स्थिति रहने के बाद पुनः संहृति होती है। यह क्रम प्रतिदिन अनुभव में आता है पर आश्चर्य है कि लोग इसे जानकर भी नहीं जानते हैं। इसीलिए युधिष्ठिर ने आश्चर्य को बताते हुये यक्ष से कहा था—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्,
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।

महाविद्या महामाया महामेधा तथा महास्मृति पदों में महा के संयोग के कारण उसके महत्व को समझना अति कठिन है पर जिस उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश के क्रम को हम प्रतिदिन देखते हैं, वह भी गले में नहीं उतरता है। इस रूप को बताना पूर्व की अपेक्षा सरल होते हुये भी सूक्ष्म ही है इसलिए सूक्ष्मतर वर्णन कहा जा सकता है।

प्रकृति का विलोम विकृति है। यहां स्थिति की चर्चा शब्दतः नहीं की गई है। पूर्वार्द्ध में प्रकृति की चर्चा है तथा उत्तरार्द्ध में विकृति की चर्चा है।

ब्रह्मा कहते हैं कि माँ ! तुम ही सबकी प्रकृति अर्थात् मूलकारण हो। जब तुम चाहती हो कि सृष्टि हो तब तीनों सत्त्व रजस् तथा तमस् गुणों में विक्षोभ होने के कारण सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ से तीनों गुणों के कार्यों का दर्शन होने लगता है। एतावता तीनों गुणों को अनुभव कराने वाली तुम ही हो। साथ ही एक समय ऐसा भी आता है जब तीनों गुण विक्षुब्धावस्था का त्याग करके साम्यावस्था की ओर बढ़ने लगते हैं। अन्त में सृष्टि रह ही नहीं जाती है तथा तुम मूल कारण ही रह जाती हो। लौकिक दृष्टि से यह अवस्था दारुणा-भयप्रदा कही जाती है। जब वस्तु का विभावन-प्रकाशन होता है तब उसे दिवस कहते हैं तथा जब उनका विभावन अवरुद्ध होता है तब उसे रात्रि कहते हैं। यहाँ इसी लाक्षणिक रात्रि की ओर संकेत किया गया है। रात्रि में तमस् का प्राचुर्य रहता है तथा अग्रिम विभावन का बीज भी इसी तमस् में छिपा रहता है। इसीलिए आज सृष्ट्युन्मुख ब्रह्मा भयभीत होकर तामसी

योगनिद्रा की ओर उन्मुख हुये हैं क्योंकि अभी-अभी कालरात्रि से छुटकारा मिला ही कि तुरन्त मधु कैटभ आ खड़े हुये।

कालरात्रि का अर्थ प्रलय, महारात्रि का अर्थ मृत्यु तथा मोहरात्रि का अर्थ निद्रा है। गुणत्रयविभाविनी प्रकृति जब संहारोन्मुखी होती है तो उसे रात्रि कहते हैं। पर इस संहार में भी मां की इच्छा प्राणी को सुख देने की होती है इसीलिए उसे रात्रि कहा जाता है। रात्रि की व्युत्पत्ति ही है कि जो सुख दे वह रात्रि—राति सुखम् इति रात्रिः। क्लान्त व्यक्ति यदि निद्रा की गोद में न जाय तो वह विक्षिप्त हो जायगा। इसीलिए माँ प्रतिदिन मोहरात्रि अर्थात् निद्रा के रूप में आती है तथा सुख देती है। जब यह पूर्ण शरीर जरा से जर्जर हो जाता है तथा प्रतिपद कष्ट का अनुभव होने लगता है तो माँ महारात्रि मृत्यु महानिद्रा के रूप में उपस्थित होकर सुख देने का उपक्रम करती है। इसी प्रकार जब समस्त सृष्टि क्लान्त हो जाती है तब माँ कालरात्रि प्रलय के रूप में उपस्थित होकर छुटकारा दिलाती है।

यद्यपि निद्रा, मृत्यु तथा प्रलय की अवस्था प्राणियों के सुख के लिए होती है तथापि लोक में इसे दारुण अवस्था कहते हैं। सृष्टयुन्मुख ब्रह्मा ने इसीलिए इसे दारुण कहा है। अन्यथा जागतिक झञ्झावात से त्रस्त की अवस्था में कहते तो कालिदास की वाणी में अवश्य कहते—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः। आश्चर्य है कि ऐसा अनुभव भी उसी को होता है जिस पर इस तामसी काली की कृपा होती है अर्थात् जो काली का दास होता है। भले ही ब्राह्मी शक्ति सम्पन्न ब्रह्मा इसे दारुणा कहें। टीकाकारों की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ नीचे दी जा रही हैं।

प्रकृतिः—प्रधान तथा मूल कारण को प्रकृति कहते हैं। यहाँ तीनों गुण साम्य अवस्था में रहते हैं।

गुणत्रयविभाविनी—(१) गुणान् पृथक्कृत्य जगद्रूपेण विभावयति-अवस्थापयति या सा गुणत्रयविभाविनी।

(२) सत्त्वरजस्तमो गुणैः या विभाव्यते सा गुणत्रयविभाविनी।

(३) गुणत्रयं सत्त्वरजस्तमोपलक्षणं विभावयितुमनुवर्तयितुं शीलं यस्याः सा गुणत्रय विभाविनी।

कालरात्रिः—(१) कालो मरणं तदुपलक्षिता रात्रिः कालरात्रिः कल्पान्तरात्रिः।

(२) यत्र प्रलीयते जगत् सा कालरात्रिः ।
(३) कालरात्रिः ब्रह्मलयोपलक्षिता ।
(४) कालो महाकालः शिवः तस्य रात्रिः शिवरात्रिः ।

महारात्रिः—(१) महतः ब्रह्मणो मरणोपलक्षिता रात्रिः ।
(२) प्रलयरात्रिः ।
(३) महाप्रलयः ।
(४) महः उत्सवः तेजोवास्त्यस्यामिति महारात्रिः दीपोत्सवरात्रिः (दीपमालिका) ।

मोहरात्रिः—(१) मोहः अकर्त्तव्ये कर्त्तव्यमितिग्रहः स एव रात्रिः बुद्धि-मोहकत्वात् मोहरात्रिः निद्रास्वरूपा वा ।
(२) ममतावर्तमोहगर्तपातिनी महामायाख्या संसृतिकर्त्री ।
(३) नन्दगृहे कृतावतारया देव्या कंसादेर्मोहजननात् कृष्णजन्माष्टमी ।

कालमहामोहरात्रयः—दैनन्दिनप्रलय-ब्रह्मप्रलय-महाप्रलयरूपाः ।

त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥ ६० ॥
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च ॥ ६० क ॥

(हे महामाये !) तुम श्री, ईश्वरी, ह्री, बोध लक्षणा बुद्धि अथवा बुद्धि तथा बोध रूपा हो।(अतः)तुम ही लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति तथा क्षान्ति हो ।

भगवती के सूक्ष्मतम तथा सूक्ष्मतर अवस्था का वर्णन करने के अनन्तर ब्रह्मा उनके सूक्ष्मरूप का वर्णन कर रहे हैं । भगवती श्री अर्थात् सम्पत्ति अथवा विष्णु की प्रिया हैं । वही ऐश्वर्य शक्ति अथवा महेश्वरी हैं । वही ह्री भुवनेशी भी हैं । ह्री का अर्थ लज्जा होता है । आगे लज्जा का अलग से भी वर्णन है । अतः ह्री का अर्थ अकरणीय कार्यों से विमुखता है । बोध अर्थात निर्णयात्मक ज्ञानरूपवाली बुद्धि भगवती हैं। अन्तःकरण वृत्ति विशेष लज्जा, उपचय अर्थात् पुष्टि, प्राप्तार्थ से अतिरिक्त में तुच्छता की बुद्धिवाली तुष्टि, विषयों से उपरमरूप शान्ति तथा सामर्थ्य रहने पर भी दूसरों के अपराध को सहने की शक्ति अर्थात् क्षान्ति भी भगवती हैं ।

यहाँ श्री–लक्ष्मीबीज, ईश्वरी–कामराजबीज तथा ह्री से भुवनेशीबीज रूप अर्थ भी निकाला जाता है । ह्रींकारो वै प्राणः इस श्रुतिवचन से प्राणभूता हैं, ऐसा भी अर्थ निकलता है । पर मेरी बुद्धि में यह भगवती के सूक्ष्म

रूप का वर्णन है। सूक्ष्मतम तथा सूक्ष्मतर का समझना तो कुछ कठिन है पर यह केवल सूक्ष्म वर्णन है अतः विचार करने पर हृदयङ्गम हो सकता है।

५८वें श्लोक में भगवती को महामेधा कहा गया है। मेधा का अर्थ ही है बुद्धि। यहां पुनः बुद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है। साथ ही बोध लक्षणा का भी प्रयोग है। अतः अर्थ होता है कि बोध स्वभाव वाली बुद्धि। यहां प्रश्न यह है कि विषय की पुनरुक्ति क्यों किया गया है तथा बुद्धि का स्वरूपलक्षण क्यों दिया गया है? मेरी बुद्धि से यहाँ बुद्धि पद तथा बोध लक्षणा पद दोनों परस्परान्वित नहीं हैं, अपितु स्वतन्त्र हैं? ५८वें श्लोक में महाविद्या तथा महामेधा का अवर रुप जो सामान्य जन ग्राह्य है, उसको बताने के लिए यहां बोधलक्षणा तथा बुद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है। हमें जो कुछ बोध होता है वह तथा जिससे बोध होता है, वह दोनों ही भगवती रुप हैं। इस प्रकार क्रमशः सूक्ष्मरूप में जो श्री, ईश्वरी, ही, बुद्धि तथा बोध हैं वही सर्व सामान्य के अनुभव में आने वाली लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति तथा क्षान्ति हैं। जहां श्रीतत्त्व रहेगा वहां ही लज्जा रहेगी। जहां ऐश्वर्य शक्ति का विकास होगा वहाँ ही पुष्टि भी रहेगी। जहां ह्री होगी वहाँ ही तुष्टि का निवास होगा। जहाँ बुद्धि होगी वहां शान्ति रहेगी तथा जहां बोध होगा वहां क्षान्ति रहेगी। अतः ये सभी भगवती के ही रूप हैं। यतः भगवती श्री, ईश्वरी, ह्री, बुद्धि तथा बोध हैं अतः वही लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति तथा क्षान्ति भी हैं। श्लोक में 'एव' पद इसीलिए चरितार्थ है।

खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा ॥ ६१ ॥
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा ॥ ६१ क ॥

हे योगनिद्रे तुम खड्ग शूल, गदा, चक्र, शङ्ख तथा चाप धारण करने वाली हो। बाण भृशुण्डी तथा परिघ आयुध वाली हो। तुम घोरा हो।

किसी भी वस्तु की स्थूलतम दशा सद्य ज्ञान योग्य हो जाती है। भगवती योगनिद्रा का स्थूलतम रूप जिसे सर्वसाधारण समझ सकते हैं, उसी रूप का इस श्लोक में वर्णन है। यह बताया जा चुका है कि भगवती योगनिद्रा विष्णु की मोहिका हैं तथा इन्हें महामाया भी कहा जाता है। सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्म रूप में वर्णन के बाद भगवती के जिस स्थूल रूप का ब्रह्मा वर्णन कर रहे हैं, इसका उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान था तथा अनुपद वे इन्हें देखेंगे भी। यह रूप स्थूलतम है, इसलिए ही यह ध्यान का विषय बनता है। ब्रह्मा ने इस रूप का साक्षात्कार किया है तथा यह स्तुति भी उन्होंने ही की है, इसलिए ही इस चरित के वे ऋषि कहलाते हैं।

मां काली के दस हाथ होते हैं। प्रत्येक हाथ में एक-एक आयुध रहता है। यहाँ भी १. खड्ग, २. शूल, ३. गदा, ४. चक्र, ५. शङ्ख, ६. चाप, ७. बाण, ८. भुशुण्डी तथा ९. परिघ का उल्लेख किया गया है। यहां दसवें हाथ में क्या है इसका वर्णन नहीं किया गया है, पर उन्हे 'घोरा' विशेषण दिया गया है, जिससे सिद्ध है कि उसी एक वस्तु के कारण वे दुर्दर्श हैं, जिसको समझने के लिए छोड़ दिया गया है। उपर्युक्त नव आयुध धारण कर लेने मात्र से कोई दुर्दर्श अथवा घोर नहीं हो सकता है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि तामसी भगवती कालरात्रि जो प्रलय का कारण बनी हैं तथा जो सृष्टि का भी बीज है उस तामसी भगवती कालरात्रि के एक हाथ में मुण्ड रहता है, जिससे रक्त टपकता रहता है। केवल इसी एक मुण्ड के कारण मां का रूप ब्रह्मा की दृष्टि में घोर हो जाता है। इसी रूप का साक्षात्कार ब्रह्मा करेंगे—दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्त जन्मनः से यह सिद्ध है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मां कुरूपा हैं। अतिशय रूप सौभाग्य कान्ति की अधिष्ठात्री इस देवी को रहस्य में सप्रकरण बताया गया है। वह इस प्रकार है—

योगनिद्रा हरेरुक्ता महाकाली तमोगुणा
मधुकैटभनाशार्थं यां तुष्टावाम्बुजासनः
दशवक्त्रा दशभुजा दशपादाञ्जनप्रभा
विशालया राजमाना त्रिशल्लोचनमालया
स्फुरद्दशनदंष्ट्रा सा भीमरूपाऽपि भूमिप
रूप सौभाग्य कान्तीनां सा प्रतिष्ठा महाश्रियाम्
खड्ग बाण गदा शूल शङ्ख चक्र भुशुण्डिभृत्
परिघं कार्मुकं शीर्षं निश्च्योतद्रुधिरं दधौ
एषा सा वैष्णवी माया महाकाली दुरत्यया
आराधिता वशीकुर्यात् पूजा कर्तुश्चराचरम्

इन श्लोकों में ऋषि ने सुरथ को जिस रूप का ज्ञान कराया है, उसे ही ब्रह्मा ने भी देखा था। फलतः प्रकृत श्लोक में घोरा पद का अर्थ होगा—एक हाथ में रक्त टपकते मुण्ड के कारण घोरा-दुर्दर्शा। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह मां साधक के लिए दुर्दर्श नहीं होती है अपितु यह रूप, सौभाग्य, कान्ति तथा अनन्त शोभा की प्रतिष्ठा होती है। इन्हीं प्रसङ्गों को पुरातन काल में किसी कवि ने एक श्लोक में निबद्ध कर दिया है जो आजतक प्रथम चरित की

इस देवता का ध्यान बन कर प्रचलित है। पाठक ब्रह्मा की स्तुति, रहस्य का विवरण तथा इस श्लोक के अर्थ को स्वयं मिला लें। श्लोक इस प्रकार है—

खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुण्डीं शिरः
शङ्खं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वाङ्गभूषावृताम्।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां
यामस्तौत् स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम् ॥

सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ॥ ६२ ॥
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ॥ ६२ क ॥

(हे योगनिद्रे ! तुम) सौम्य हो, सौम्यतर हो तथा सम्पूर्ण-सौम्यों से भी अत्यन्त सुन्दरी हो। पर और अपरों में तुम परमा हो। तुम ही परमेश्वरी हो।

स्थूलतम वर्णन प्रसङ्ग में जिसे ब्रह्मा ने घोरा कहा था, उसे ही स्थूलतर वर्णन में सौम्या कह रहे हैं। कहां गया वह दुर्दर्श रूप, कहाँ गये वे आयुध ? अरे माँ तो सौम्य है। सच, भक्तों के लिए मां सौम्य है। यदि दो सौम्य इकट्ठे हो जाय तो भी क्या मां सौम्य कहलाने की अधिकारिणी होंगी ? ब्रह्मा कहते हैं कि अरे उन दोनों में माँ ही श्रेष्ठ सिद्ध होंगी वह सौम्यतरा है। यदि प्रश्न हो कि अनेक सौम्य एकत्र हों तो ? तो भी ब्रह्मा कहते हैं कि वह सौम्यतमा है— अशेष सौम्यों से अधिक सौम्य वह है। अधिक क्या कहा जाय जितने भी पर अर्थात् उत्कृष्ट त्रिदेव तथा अपर—कुछ न्यून फिर भी पर जैसे-इन्द्रादिक हैं माँ सबसे परमा—उत्कृष्टा हैं। ब्रह्मा कहते हैं कि हे माँ ! तुम ही परमेश्वरी हो।

ब्रह्मा अनुभवी हैं। वे जानते हैं कि उनकी सत्ता भी माँ के कारण ही है। इसे अनुपद वे कहेंगे भी। यहां प्रश्न होता है कि यदि माँ सौम्या हैं तो क्या उनसे मधु कैटभ की हत्या होगी ? क्या उनका ऐसा भी स्वभाव है ? उत्तर है कि जहाँ वह सौम्या हैं वहाँ वह सौम्या + असौम्यतरा = सौम्यासौम्यतरा हैं अर्थात् भक्तों के लिए सौम्या तथा अभक्तों के लिए असौम्यतरा भी हैं। यदि यह आग्रह हो कि ऐसी सन्धि नहीं की जायेगी। प्रसङ्गानुरूप सौम्या, सौम्यतरा तथा सौम्यतमा ही कहना ठीक है। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि अभक्तों के लिए वह कैसे सौम्या होंगी ? ब्रह्मा का कहना है कि माँ के दर्शन के बाद कोई अभक्त रह ही नहीं सकता है। इसीलिए तो ब्रह्मा स्तुति कर रहे हैं कि उनकी बाधा दूर हो तथा अनुपद ही यह देखा जायेगा कि पालन कर्त्ता विष्णु के साथ युद्ध करने वाले मधु कैटभ बह कह उठेंगे कि मुझसे वर मांगो।

युद्धरत एकाएक सौम्य हो जाय, आश्चर्य है। नहीं, आश्चर्य नहीं है। सौम्यतमा से विमोहित, सृष्टि के प्रारम्भ में ही सृष्टिकर्त्ता का विधातक नहीं हो सकता है। सृष्टि होनी है, सृष्टि होगी। भले ही मां आयुध धारिणी हो आयुध उठाने का प्रसंग ही नहीं आयेगा।

सौम्या—अक्रूरा, प्रशान्ता, सोमदैवतिका।

सौम्यतरा—द्वयोरपि अतिशयेन सौम्या सौम्यतरा।

परापराणां परमा—परा–ब्रह्मादयः, अपराः शक्रादयः अथवा त्वं परा–पराधाक्, पराणांपरमा–उत्कृष्टानां प्रधानम्। अत्र परशब्दस्य सर्वनामरूपेण प्रयोगाभावात् न परेषाम् इति अपितु पराणां भवति।

परमेश्वरी—परमाच चासौ ईश्वरीच परमेश्वरी।

यत्किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद् वाखिलात्मिके॥ ६३॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सात्वं किंस्तूयसे तदा॥ ६३ क॥

हे सर्व स्वरूपे! कहीं भी जो वस्तु सत् असत् रूप है उन सबकी जो शक्ति है वह तुम हो। फिर मुझसे तुम कैसे स्तुत हो सकती हो।

अपने में स्तुति की अयोग्यता दिखाना स्थूल स्तुति है। इससे स्तुत्य की महत्ता स्वतः प्रकाशित हो जाती है। साथ ही यदि स्तुत्य ऐसा हो कि उसके अतिरिक्त वस्तुतः कहीं किसी देश या काल में कोई भी वस्तु हो ही नहीं, तो कहना ही क्या है। जो वर्तमान काल के वस्तु हैं या चिद्वर्ग के हैं या आकाश आदि रूप हैं वे सत् कहलाते हैं तथा जो भूत या भविष्यत् काल के हैं या जड वर्ग के हैं अथवा पृथ्वी आदि रूप है वे सभी असत् कहलाते हैं। इन सभी वस्तुओं की शक्ति वस्तुत. भगवती ही है। क्योंकि भगवती के बिना ये प्रकाशित ही नहीं हो सकते हैं। वस्तुओं का स्वभाव भगवती रूप होता है। ब्रह्मा इसको भली-भांति समझ रहे हैं अतः कुछ वर्णन करने के उपरान्त अपना असामर्थ्य देखकर कहते हैं कि हे सर्वस्वरूपे! तुम मुझसे किस प्रकार स्तुत हो सकती हो। इदमित्थम् रूप से तुम्हें कैसे कह पाऊँगा। क्योंकि स्तुति में शब्दों के द्वारा वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया जाता है। यह वैशिष्ट्य किसी की अपेक्षा होता है। पर जब कोई अन्य हो ही नहीं तो वाच्य वाचक के अभाव में स्तुति कैसे हो सकती है। वाच्य स्वरूपा भी तुम ही हो वाचक स्वरूपा भी तुम ही हो। देश और काल भी तुम ही हो।

ब्रह्मा की यह स्तुति स्थूल स्तुति है। इसमें सर्वसमर्पण की भावना है। पर यहां शक्ति का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। जब कुछ करना ही नहीं है

तो चुप लगाना चाहिए। पर नहीं, ब्रह्मा अब कुछ मांगना चाहेंगे। यह उसी का उपक्रम है तथा शक्तिविवश ब्रह्मा वैसा करेंगे भी।

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पातात्ति यो जगत् ॥ ६४ ॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः ॥ ६४ क ॥
विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ॥ ६५ ॥
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥ ६५ क ॥

जगत् का सर्जक, जगत् का रक्षक तथा जो जगत् को अपने में लीन करता है वह भी जिस तुम्हारे द्वारा निद्रा के वशीभूत कर दिया गया है, उस तुम्हारी स्तुति करने में यहां कौन समर्थ है ? विष्णु, मैं तथा शङ्कर ये तीनों ही तुम्हारे द्वारा यतः शरीर प्राप्त कराये गये हैं अतः तुम्हारी स्तुति करने में कौन शक्तिमान् हो सकता है।

विनम्रता की पराकाष्ठा के साथ ही वस्तु स्थिति का स्पष्ट निरूपण यहाँ ब्रह्मा ने किया है। प्रथम श्लोक में एक विष्णु में ही सर्जकत्व, पालकत्व तथा नाशकत्व दिखाने के बाद पुनः द्वितीय श्लोक में भेद बुद्धि से त्रिदेवों की चर्चा रख इन रूपों में एकत्व व्यवस्थापित किया गया है। साथ ही महामाया की अगम्यता का भी प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मा का भाव ही यह है कि कार्य कारण को समझ नहीं सकता है। पूर्वानुभव के आधार पर कुछ अनुमान करना वस्तुस्थिति को ठीक से समझना नहीं है। इन्हीं घटनाओं के द्वारा प्राणियों का अपना अनुभव कराना महामाया के अनुकम्पा-प्रदर्शन की एक शैली है। यह भाव निम्न श्लोकों में स्पष्ट है—

विपत्तौ धात्रे स्वामवगमयितुं बुद्धिमददाः
न चेदेवं ज्ञानं तव नहि भवेन्मानविरहात्।
मदुत्पन्नः ज्ञातुं प्रभवतु यथा मामितिधिया
त्वमात्मानं मातः प्रकटयसि नैकेन विधिना॥
जनौस्थित्यां नाशे निखिलभुवनानां करणतां
त्रिदेवान् स्वेच्छातो विधिहरिहरान् न्यासयति या।
निमित्तोपादाने विघटयति शक्त्या स्वगतया
नमाम्येतां हेतुं फलमपि च हेतोः प्रतिपलम्॥
जगत्स्रष्टा–तन्नन्तोऽयम् । पाता–रक्षकः ।

सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता ॥ ६६ ॥
मोहयैतौ दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ ॥ ६६ क ॥

प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु ।। ६७ ।।
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ।। ६७ क ।।

इस प्रकार अपने उदार प्रभावों से संस्तुत पूर्वोक्त स्वाभाव वाली हे देवि (योगनिद्रे) तुम इन दोनों मधुकैटभ नामक असुरों को मोहित करो। तथा शीघ्र जगत्स्वामी अच्युत तुम्हारे द्वारा प्रबोधयुक्त किये जांय तथा इन दोनों महासुरों को मारने के लिए इस (विष्णु) का बोध भी किया जाय।

ब्रह्मा अब स्ववध के लिए असुरों को उद्यम करते हुए भी देखकर शीघ्रता-पूर्वक अपनी स्तुति को समाप्त करते हुए प्रार्थना करते हैं कि माँ! मैं तुझे भूला नहीं हूं। यह स्तुति ही इसका प्रमाण है। तुम्हारा प्रभाव-माहात्म्य-उदार अर्थात् असाधारण है। जगत् की रचना में प्रवृत्त होने वाले मेरे सामने बाधारूप कठिनता से वश में करने योग्य, ये दो असुर उपस्थित हो गये हैं। सुरों का विरोध करना इनका स्वाभाविक गुण है। ऐसी स्थिति में पहले तो इन असुरों को मोहित करो जिससे उद्यम कुछ ढीला पड़े। अनन्तर तुम्हारे द्वारा नियुक्त जगत् का स्वामी अर्थात् पालक यदि जग जाय तो काम हो सकता हैं। इसलिए हे योगनिद्रे! तुम वह करो जिससे यह प्रवुद्ध हो जांय तथा इनमें यह बुद्धि भी उत्पन्न हो जाय कि ये दोनों असुर मारे जांय। दुष्टों का हनन भी पालन के अन्तर्गत ही आता है।

यहां 'प्रवोधम्' में प्रधान कर्म में द्वितीया हुई है।

ऋषिरुवाच

एवं स्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा ।। ६८ ।।
विष्णोः प्रबोधनार्थाय निहन्तुं मधुकैटभौ ।। ६८ क ।।
नेत्रास्यनासिका — बाहुहृदयेभ्यस्तथोरसः ।। ६९ ।।
निर्गम्य दर्शने तस्थौ ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।। ६९ क ।।

ऋषि कहते हैं कि उस समय वहां (ब्रह्मा के द्वारा) इस प्रकार स्तुत तामसी निद्रारूपा देवी मधुकैटभ को मारने के लिए विष्णु के प्रबोधनार्थ (विष्णु के) नेत्र, मुख, नासिका, बाहु तथा हृदय से एवम् वक्ष से निकल कर उस अव्यक्तजन्म पर व्यक्तजन्म ब्रह्मा के दर्शन में अर्थात् नेत्रों के सम्मुख स्थित हो गई।

ऋषि कहते हैं कि उस समय स्तुत होने के बाद योगनिद्रा देवी ने विष्णु के अङ्गों का परित्याग कर दिया तथा ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हो गई।

इसका उद्देश्य विष्णु को निद्रा से विमुक्त करना था। साथ ही विष्णु के द्वारा मधु कैटभ की समाप्ति करानी थी। साथ ही ब्रह्मा को सद्यः आश्वस्त भी करना था।

यहां ऋषि ने योगनिद्रा के लिए तामसी शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः तामसी का प्रयोग निद्रा रूप में रहने के कारण है। अन्यथा काली सात्विक देवता हैं। इनका तमो रूप बाह्य है तथा आभ्यन्तर स्वरूप विशुद्ध सात्विक है। इस प्रकरण को जानने के लिए रहस्य का अंश देखना चाहिए। सात्विकी महामाया जब व्यक्ति को ऐसा बना देती है कि देखता हुआ भी वह कुछ न देख सके तो उस समय उनको तामसी कहा जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि—

आस्तीर्य तामसी शक्तिरविधा पश्यतोहरा।
यया्च्छादितलोकोऽयं पश्यन्नपि न पश्यति॥

यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि महामाया की अवस्थिति को केवल ब्रह्मा ने देखा, उन दोनों असुरों ने नहीं देखा। यदि ऐसा होता तो वे तथाकथित उत्पन्ना महामाया से ही लड़ने लगते।

अव्यक्तजन्मा का तात्पर्य है अव्यक्ता अर्थात् सर्वस्वरूपा अव्यक्ता महालक्ष्मी से जिनका जन्म हुआ हो। ब्रह्मा अव्यक्तजन्मा थे। साथ ही इस समय उनका जन्म व्यक्त हो चुका है। अतः व्यक्त जन्मा भी है।

उत्तस्थौ च जगन्नाथस्तया मुक्तो जनार्दनः॥ ७०॥
एकार्णवेऽहिशयनात्ततः स ददृशे च तौ॥ ७० क॥
मधुकैटभौ दुरात्मानावतिवीर्यपराक्रमौ॥ ७१॥
क्रोधरक्तेक्षणौ हन्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ॥ ७१ क॥

तब उस (योगनिद्रा) से मुक्त जगन्नाथ जनार्दन (सर्वत्रव्याप्त उस) एक समुद्र में सर्पशय्या से उठ गये तथा उन दोनों दुरात्मा, अत्यन्त वीर्य तथा पराक्रम वाले मधु कैटभ को देखा जो ब्रह्मा को मारने के लिए उद्यम करना प्रारम्भ कर चुके थे तथा जिनके नेत्र क्रोध के कारण रक्त हो गये थे।

यहां प्रश्न होता है कि क्या जनार्दन ने ही उन दोनों को देखा तथा उन दोनों ने जनार्दन को नहीं देखा। इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकारों ने 'ददृशे' क्रिया में आत्मने पद के कारण अर्थात् ददर्श के स्थान पर ददृशे पाठ के कारण कर्तरिकर्मव्यतिहारे (पा० सू०) के अनुसार आत्मनेपद मान कर अर्थ किया है कि विष्णु ने उन दोनों को देखा तथा उन दोनों ने विष्णु को भी देखा।

सः तौ ददर्श तथा तौ च तं ददृशाते । पर मेरी समझ में इतना व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि इससे कथा प्रवाह रुकता है। ददृशे का आत्मनेपद आर्ष मान लेना चाहिए अथवा यह अर्थ करना चाहिए कि विष्णु ने उन दोनों को अपने लिए देखा । अपने लिए देखने का तात्पर्य यह है कि पालक की थोड़ी सी असावधानी से आज जगत्स्रष्टा सङ्कट में आ गया है। यह तो स्रष्टा की बुद्धिमत्ता है कि उन्होंने उन दोनों असुरों को अपने मारने के लिए उद्यत देखा तथा 'उपचार' में प्रवृत्त हो गये। फिर भी इतने ही विलम्ब में इतना तो हो ही गया था कि जो वे उद्यत थे वे उद्यम भी करना प्रारम्भ कर चुके थे अर्थात् कुछ धर पकड़ भी करना प्रारम्भ कर चुके थे।

यहां हन्तुं के स्थान पर अत्तुम् पाठ मिलता है जो अधिकतम टीकाकारों को मान्य है। पर मुझे ऐसा लगता है कि 'हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ' से प्रारब्ध कहानी का 'हन्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ' से ही पर्यवसान करना युक्तिसङ्गत है।

'मधु कैटभौ दुरात्मानौ' इस पाद में नव अक्षर का प्रयोग हुआ है, जबकि अनुष्टुप् ८ का होना चाहिए। ऐसे प्रयोग की संगति टीकाकारों ने आर्षमान कर किया है। वस्तुतः छन्द का प्रवाह यदि न रुके तो ऐसा हो जाना पिङ्गल के अनुकूल ही होता है।

समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरिः ॥ ७२ ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि बाहुप्रहरणो विभुः ॥ ७२ क ॥
तावप्यतिबलोन्मत्तौ महामाया-विमोहितौ ॥ ७३ ॥
उक्तवन्तौ वरोऽस्मत्तो व्रियतामिति केशवम् ॥ ७३ क ॥

इसके पश्चात् बाहु मात्र आयुधवाले सर्वत्र व्यापक भगवान हरि उन दोनों से पांच हजार वर्ष तक युद्ध किया अर्थात् मल्लयुद्ध किया। अत्यन्त बल से उन्मत्त (साथ ही) महामाया से विमोहित उन दोनों ने भी (तब) जलशायी हरि से कहा कि 'हम लोगों से वर मांगो'।

यहां इतना सिद्ध हो चुका है कि उन दोनों असुरों को देखकर सृष्ट्युन्मुख ब्रह्मा निरुपाय हो गये थे। स्वयम् उद्यम करने के वे अधिकारी नहीं थे। इसलिए विष्णु को जगाने के लिए उन्होंने प्रार्थना की। विष्णु जगे भी और लड़े भी। लड़ाई भी पांच हजार वर्ष तक चली। न कोई हारा, न कोई जीता। सम्भवतः विष्णु जीतते। पर कठिनाई का आभास ब्रह्मा को पहले से ही था। क्योंकि उन्होंने पूर्वकाल में यह देखा था कि जिन दुर्दान्त असुरों को उन्होंने बनायी था, उनको समाप्त करने की स्वाभाविक योग्यता विष्णु में रही ही है।

पर ये दोनों असुर तो ब्रह्मा के बनाये नहीं थे । इसीलिए विष्णु को जगाने की प्रार्थना करने से पहले ही उन्होंने कहा था कि—मोहयैतौ दुराधर्षौ असुरौ मधुकैटभौ । इसके पश्चात् उन्होंने कहा था कि 'प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयता-मच्युतो लघु' । महामाया ने ब्रह्मा की दोनों इच्छा पूर्ण किया । विष्णु को जगाया तथा असुरों को विमोहित भी किया । 'जाको प्रभु दारुण दुःख देंही ताकी मति पहिले हरि लेहीं' । असुरों को लगा कि हम लोग बलशाली हैं तथा लड़ने वाला भी बलशाली है । लाओ वर के द्वारा इसको अपने पक्ष में कर लें । फिर तो यह चतुर्मुख एकाकी हो जाएगा तथा इसका मारना सरलतम हो जायगा । अतः उन्होंने कहा कि—भद्रपुरुष ! हम लोगों से वर मांगो । पञ्चवर्ष-सहस्राणि पद में कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे के नियमानुसार द्वितीया है ।

श्री भगवानुवाच

भवेतामद्य मे तुष्टौ मम वध्यावुभावपि ।। ७४ ।।
किमन्येन वरेणात्र एतावद्धि वृतं मया ।। ७४ क ।।

श्री भगवान् ने कहा—(यदि) आप दोनों मुझ पर आज तुष्ट हैं (तो) दोनों ही मेरे द्वारा वध के योग्य हो जांय । यहां दूसरे वर से क्या ? इसलिए इतना ही, मेरे द्वारा मांगा गया है ।

सुगमता की दृष्टि से इस श्लोक में यदि और तो का अध्याहार किया जाता है । यदि न भी करें तो यही अर्थ निकलेगा । वध्य में 'हनो वा वध च' से यत् प्रत्यय होता है । अत्र तथा एतावत् में प्राप्त सन्धि अविवक्षा के कारण नहीं होती है । एतावत् का सम्बन्ध वृतम् से हैं ।

ऋषिरुवाच

वञ्चिताभ्यामिति तदा सर्वमापोमयं जगत् ।। ७५ ।।
विलोक्य ताभ्यां गदितो भगवान्कमलेक्षणः ।। ७५ क ।।
आवाञ्जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता ।। ७६ ।।

ऋषि मेधा ने कहा—उस समय धोखा खाये उन दोनों के द्वारा सभी जगत् को जलमय देखकर भगवान् कमलेक्षण कहे गये—हम दोनों का हनन करो (पर वहाँ) जहाँ उर्वी अर्थात् पृथ्वी जल से परिप्लुत न हो ।

आपोमयम् में आपस् शब्द से मयट् प्रत्यय हुआ है, न कि आप् शब्द से । कमलेक्षण के दो अर्थ होते हैं—१. कमल के समान नेत्र हों जिनके तथा २. कमला हो दृष्टि में जिसके अर्थात् सरोजस्थिता महालक्ष्मी का ध्यान रखने वाला अर्थात् ह्रीं तत्त्व विशिष्ट (ह्रीं तत्त्वज्ञ) ।

ऋषिरुवाच

तथेत्युक्त्वा भगवता शङ्खचक्रगदाभृता ।।
कृत्वा चक्रेण वै छिन्ने जघने शिरसी तयोः ।। ७७ ।।

ऋषि कहते हैं—'ऐसा ही' जैसा आप दोनों कह रहे हैं वैसा ही, यह कह कर शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करने वाले उन भगवान् के द्वारा उन दोनों के शिर (अपने) गोद में रख कर चक्र से काट दिये गये।

जघन का हिन्दी में अर्थ पेंड़ू होता है। अर्थात् नाभि के नीचे तथा मूत्रेन्द्रिय के ऊपर का भाग जघन कहलाता है। किसी को यहाँ रखकर मारने का तात्पर्य है कि मारने वाला बैठा रहेगा। फलतः यहां जघन का अर्थ गोद-अङ्क होता है।

पहले ब्रह्मा अपनी स्तुति में भगवती को महादेवी तथा महासुरी कह चुके हैं। साथ ही महामोहा तथा महामेधा भी कह चुके हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में इन सभी विशेषणों की सार्थकता दिखाई गई है। मदोन्मत्त असुरों की दृष्टि से ओझल महामोहा के द्वारा मोहित असुर कह बैठे कि हम लोगों से वर मांगो। ऐसा शक्ति के अतिरेक के कारण हुआ। पर क्या यह शक्ति उनकी अपनी थी ? नहीं, यह शक्ति भी उसी शक्तिपुञ्ज से प्राप्त थी। पर उसका विनियोग अनुचित स्थान पर था। असुरों में रहने वाली यह शक्ति ही आसुरीशक्ति है। साथ ही विष्णु में रहने वाली शक्ति भी दैवी शक्ति है। महाविद्या रूपा महामाया स्वयं लीला करती हैं तथा स्वयं साक्षी भी बनती हैं। कहाँ तो आसुरी बुद्धि से विष्णु को स्ववश करना था, कहाँ विष्णु की दैवी बुद्धि उनका ही विनाश मांग लिया। लेकिन आसुरी शक्ति का चमत्कार तो तब देखने को मिलता है जब उन्होंने स्मृति के सहारे घटनाक्रम को समझा तथा यह जान लिये कि वे वञ्चित हुये हैं तो उन्होंने तुरत संविदा (शर्त) लगाई कि अच्छा ठीक है, मारो, पर जहाँ पृथ्वी जलमग्न न हो। महामोहा के द्वारा मोहग्रस्त किये जाने पर भी माँ ने उनका साथ नहीं छोड़ा। बुद्धि रूप में सदा साथ दे रही हैं पर असुर स्वभाव के कारण वे अपने को सदा बुद्धिमान् समझेंगे ही और यही उनमें पतन का कारण होगा। पर विष्णु की दैवी बुद्धि माँ का साथ नहीं छोड़ती है। यही कारण है कि वे सफल होंगे। इस विश्लेषण की सिद्धि ऋषि के 'कमलेक्षण' पद से होता है। सामान्यतः टीकाकारों ने कमलेक्षण का अर्थ 'कमल के समान नेत्र वाले' अर्थ किया है। पर मेरी समझ से विष्णु ने ऐसा अवश्य सोचा होगा कि ये असुर क्या इतने मूर्ख हैं, जो ऐसा वर मांग बैठेंगे ?

उन्होंने उस शक्ति के विषय में अवश्य ध्यान दिया होगा, जिसके कारण वैसा हुआ और वह शक्ति भी कोई दूसरी नहीं है, उनकी अपनी ही है। अतः कमला वैष्णवी शक्तिः योगनिद्रा–ईक्षणे दृष्टौ यस्य सः कमलेक्षणः के अनुसार विष्णु उस शक्ति के प्रति प्रणत थे। अतः उनकी विजय स्वाभाविक थी। फलतः उन्होंने अपने जघन पर उन दोनों के शिर का छेदन किया। इससे सिद्ध है कि माँ की कृपा सबको सुलभ रहती है पर जो उसके प्रति प्रणत रहते हैं तथा उसका प्रयोग करना चाहते हैं वे ही सफल होते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि लौकिक दृष्टि से असफल भी सफल ही हैं, यदि वे महामाया के कृपेच्छु हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मधु और कैटभ ने तो यह कहा था कि–मारो, पर वहाँ जहाँ उर्वी जल से परिप्लुत न हो। पर इस समय तो उर्वी अर्थात् पृथ्वी का निर्माण ही नहीं हुआ था फिर विष्णु का जघन पर उनका शिर रखकर काटना क्या उचित था? उत्तर है कि उर्णोति इति उर्वी इस व्युत्पत्ति से उर्वी उसे कहते हैं जो सबको आप्लावित कर ले। उस की भी यही व्युत्पत्ति होती है। उरु शब्द से शरीर का वह भाग अभिप्रेत होता है, जिसे आजकल हिन्दी में जांघ कहते हैं। दो उरुवों के समाहार को उर्वी उर्वोः समाहारः उर्वी कहते हैं। इसलिए विष्णु ने तो उन्हें उर्वी पर ही मारा। यदि यह कहा जाय कि यह तो शब्दच्छल हुआ। वस्तुतः असुरों का तात्पर्य उर्वी पृथ्वी से था, न कि, दो उरुवों के योग से। तो यहाँ यह जानना चाहिये कि भगवान् विष्णु का जघन कभी जलप्लुत नहीं होता है तथा पृथिवी आदि का आरम्भक होने के कारण वह उर्वी ही कहलाता है। विष्णु के इस स्वरूप को जानने के लिए वेद का पुरुषसूक्त देखना चाहिए।

शङ्खचक्रगदाभृता में शङ्खश्च चक्रं च शङ्खचक्रं, तेन सहिता गदा शङ्खचक्र गदा तां बिभर्ति शङ्खचक्रगदाभृत् तेन ऐसा समास करना चाहिए।

एवमेषा समुत्पन्ना ब्रह्मणा संस्तुता स्वयम् ॥
प्रभावमस्या देव्यास्तु भूयः शृणु वदामि ते ॥ ७८ ॥

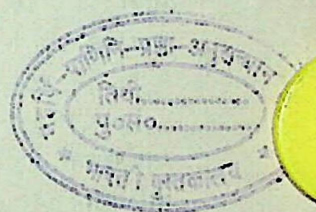
इस प्रकार ब्रह्मा से संस्तुत यह–महामाया–स्वयम् उत्पन्न हुई। पुनः इस देवी का प्रभाव भी तुमसे कह रहा हू, सुनो।

जब सुरथ ने मोह विषयक जिज्ञासा की थी तब ऋषि ने कहा था कि भगवती महामाया के द्वारा सारा जगत् मोहित किया जाता है। इस पर राजा

ने पूछा था कि वह महामाया कैसे उत्पन्न हुई। इस पर ऋषि ने कहा था कि वह तो नित्या है। पर देवों की कार्यसिद्धि के लिए जब आविर्भूत होती है तब उस नित्या को भी लोग उत्पन्ना कहते हैं। पुनः ऋषि प्रसङ्ग पर आते हुये कह रहे हैं कि राजन् इस प्रकार वह भगवती महामाया स्वयम् उत्पन्न होती हैं। उसका उद्देश्य देवकार्यसिद्धि–शुभकार्यसिद्धि होता है।

सुरथ का द्वितीय तथा तृतीय प्रश्न था—उसका स्वभाव तथा स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का एक उत्तर तो मेधा दे ही चुके हैं पर पुनः उसे शब्द के विस्तार का समाश्रयण लेकर कहने की इच्छा से कह रहे हैं कि 'पुनः प्रभावं वदामि शृणु'। □□□

श्रीभगवदर्पणम्



दुर्गासप्तशती, शुद्धिपत्रम्

मूले

अशुद्ध	शुद्ध	श्लोक संख्या	पृष्ठ
जितः	र्जितः	५	
ध्रु व	ध्रवं	२४	
उवाच	उवाच		१८
बन्धाति	बध्नाति	१२ क	
र्नाम	नाम	२८	
मोहो	मोहो	३३	
पश्यंतान्	पश्यैतान्	३८	

विवृतौ

अशुद्ध	शुद्ध	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मार्कण्डयेन	मार्कण्डेयेन	७	१
वाम्बिका	वम्बिका	४	१
कैस	कैसे		२
सिद्धयर्थ	सिद्ध्यर्थं		४
नयस्ते	नमस्ते		४
श्रो ।।	श्रोता		४
पुनरुत्पास	पुनरुत्पत्ति		५
व्रह्मयो	व्रह्मणो		६ (पाद टिप्पणी)
मामेन	मानेन		६
प्रवार	प्रकार		७
सज्ञा	संज्ञा		७
चचल	चंचल		७
उर्जस्वी	ऊर्जस्वी		६
इङिगत	इङ्गित		१२
प्रनयकाल	प्रलयकाल		१२

अशुद्ध	शुद्ध	विवृति पृ० सं०
तत्व	तत्त्व	१२
मानपितुं	मानयितुं	१४
अस्मिम	अस्मिन्	१४ (टिप्पणी)
देवाददश्च	देवादयश्च	१४ "
मिदक्	मिदम्	१४ "
इत्य	इत्थं	१५
मन्वत्तर	मन्वन्तर	१५
प्रतिवाध	प्रतिबोध्य	१६
वृतान्त	वृत्तान्त	१७
प्रवल	प्रबल	२०
मनव	मनन	२३
कराना	के सभी	२६
टेखी	देखी	२८
दुखो	दुःखी	२६
वन	वन	२६
हों	हो	२६
सुनि	मुनि	३१
अन्तर्मावित	अन्तर्भावित	३२
दुख	दुःख	३२
वो	को	३३
भी भी	भी	३३
ज्ञानामेम	ज्ञान मानें	३६
यह गोचर	वह गोचर	३७
मानवो	मनवों	३६
सम्पन्न	सम्पन्न	३६
संसारास्थिति	संसारस्थिति	४२
विषय हैं	विषय है	४२
संसर बन्ध	संसार बन्ध	४४ (टिप्पणी)
राजां का	राजा की	४८
माना	मानना	४६
पिण्डु	पिण्ड	५८



अशुद्ध	शुद्ध	पृ० सं०
अनुवार	अनुस्वार	५६
तय	तथा	६३
श्रतिवचन	श्रुतिवचन	६५
देनों पद	दोनों पद	६५
वे कार्यों	के कार्यों	६७
होना है	होता है	६७
रत्रि	रात्रि	६७
छटकरा	छुटकारा	६८
सृष्टयुन्मुख	सृष्टयुन्मुख	६७ तथा ६८
वहते	कहते	६८
सद्य	सद्यः	७०
त्रिशल्लोचंन	त्रिशल्लोचन	७१
परिधाव्	परिधाव्	७२
द्यविसास्य	द्युविमास्य	७२
रविद्या	रविद्या	७६
उ र्वी	उर्वी	७८
शि	शिर	७६
मनोम्मत्त	मदोन्मत्त	७६
म	हम	७६
व	क	प्रायि


तिथि
पु०सं०
भारती पुस्तकालय

संस्कृत सेवा संस्थान

के

प्रकाशन

महाभाष्यम् (प्रथमाह्निक)

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी (कारक प्रकरण)

अभिनवा स्तुतिः

मूषक वैदुष्यम्

भारतीय दर्शनपरम्परा और साहित्यदर्शन

संस्कृत साहित्य में स्तोत्रकाव्य

राघवेन्द्रचरितं महाकाव्यम्

दुर्गासप्तशती (प्रथम चरित)

इस प्रति का मूल्य : १५-०० रुपये

मुद्रक : एस० के० प्रिन्टर्स, आर्य नगर, गोरखपुर